

आजकल

फरवरी-मार्च, 1997

मूल्य : पांच रुपये

साहित्य एवं संस्कृति का मासिक



- वो रंगे-शायरी बदला-अंजनी कुमार श्रीवास्तव ■ कबीर और रैबले : चिंतन के दो छोर-प्रकाश सत्येन नटराजन
■ एक अकिंचन व्यक्तित्व-विष्णु प्रभाकर ■ मैं और मेरी कहानी-हृदयेश ■ सत्यदेव दुबे से बातचीत-
पंकज झा ■ इस वर्ष की पुस्तकें-आर. चेतन क्रांति ■ निलिमा सिन्हा की लंबी कहानी, कविताएं आदि।



विंसेंट शीन

विंसेंट
शीन की प्रसिद्ध
पुस्तक 'ए ग्रेट
लाइफ इन
ब्रीफ' पहली
बार हिंदी में

गांधीजी

एक महात्मा की संक्षिप्त जीवनी

मूल्य : 50 रुपये

संपर्क :

व्यापार व्यवस्थापक

प्रकाशन विभाग

पटियाला हाउस

नई दिल्ली - 110001

वर्ष : 53; अंक : 10-11; पूर्णक : 629;
फरवरी-मार्च, 1997
माघ-फाल्गुन-चैत्र, शक संवत् 1918-19

संपादक
प्रताप सिंह बिष्ट
सहायक संपादक
योगेंद्र दत्त शर्मा

आवरण : गणेशी लाल
संपादकीय पत्र व्यवहार :
संपादक 'आजकल'
प्रकाशन विभाग, पटियाला हाउस,
नई दिल्ली-110001; दूरभाष : 3387069

चंदे की दरें
एक प्रति : 5 रुपये;
वार्षिक : 50 रुपये;
विदेशों में (हवाई डाक से) एक वर्ष :
पाकिस्तान, बंगलादेश, श्रीलंका :
200 रुपये या 7 डालर;
शेष विश्व : 20 डालर या 600 रुपये;

चंदे व वितरण संबंधी पूछताछ :
व्यापार व्यवस्थापक
प्रकाशन विभाग
सूचना और प्रसारण मंत्रालय
पटियाला हाउस
नई दिल्ली-110001
दूरभाष : 3387983

हमारे विक्रय केंद्र

नई दिल्ली : सुपर बाजार, कनाट प्लेस
दूरभाष : 3313308

लखनऊ : 27/6 राममोहन राय मार्ग;
दूरभाष : 245785

कलकत्ता : 8, एस्प्लेनेड ईस्ट;
दूरभाष : 2488030

पटना : बिहार राज्य सहकारिता बैंक
बिल्डिंग, अशोक राजपथ;
दूरभाष : 653823

मुंबई : कामर्स हाउस, करीम भाई रोड,
बालार्ड पायर; दूरभाष : 2610081

तिरुअनंतपुरम : गवर्नमेंट प्रेस के
निकट; दूरभाष : 330650

हैदराबाद : राज्य पुरातत्व संग्रहालय
बिल्डिंग, पब्लिक गार्ड्स
दूरभाष : 236393

चेन्नई : राजाजी भवन, बसेंअगर;
दूरभाष : 867643

लेख



6. 'वो रंगे-शायरी बदला'

उर्दू के प्रसिद्ध शायर फिराक गोरखपुरी का उर्दू शायरी में कदम रखना कुछ ऐसी बात थी जिसके अंदर आने वाले दिनों की शायरी के स्वर में एक नई किस्म की गंभीरता, एक ताजगी और एक नया सुहानापन पैदा हो जाने की पूर्व सूचना छिपी हुई थी। जन्मशती के अवसर पर अंजनी कुमार श्रीवास्तव द्वारा फिराक के कवि-व्यक्तित्व का परिचय।

27. कबीर और रैबले : चिंतन के दो छोर

सोलहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में जहां भारत में साहित्य के क्षेत्र में परिवर्तन होने के साथ-साथ नई क्रांतिकारी चेतना उभर रही थी, वहीं फ्रांस के साहित्य में नई चेतना का दौर था। हिंदी के संत कवि कबीर और फ्रांसीसी साहित्यकार रैबले की चेतना का तुलनात्मक विवेचन प्रस्तुत कर रहे हैं प्रकाश सत्येन नटराजन।

33. एक अकिंचन व्यक्तित्व

कथाकार-नाटककार गोविंद वल्लभ पंत के व्यक्तित्व और कृतित्व पर विष्णु प्रभाकर।

35. मैं और मेरी कहानी

कथाकार हृदयेश का मानना है कि लेखक का कार्य-जनपद ही उसका साहित्य-जनपद होता है। अपने व्यक्तिगत अनुभवों और प्रसंगों के माध्यम से रचना प्रक्रिया पर उनके विचार प्रस्तुत हैं।

39. नई प्रतिभाओं का वर्ष

गत वर्ष प्रकाशित पुस्तकों पर चर्चा कर रहे हैं आर. चेतन क्रांति।



साक्षात्कार

37. सांस्कृतिक मूल्य बदल रहे हैं

रंगकर्मी सत्यदेव दुबे से पंकज झा की बातचीत

कहानी

9. कुल्हाड़ी, गीदड़ और

नीलिमा सिन्हा

कविता

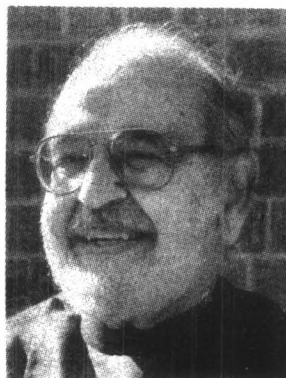
24. कुछ गुज़लें, कुछ रुबाइयां

फिराक गोरखपुरी

26. स्त्री : दो कविताएं

रमेश चंद्र पंत

पुस्तक चर्चा



41. रागदीप्त सच : अज्ञेय का काव्य और चिंतन

गोबिंद प्रसाद

46. हिंदी और कंप्यूटर

शंकर सिंह भाटिया

स्तंभ

2. पत्र

5. प्रसंग

आजकल



आजकल का लोगो — एक व्यक्ति का एक हाथ में एक बालू का ढेर उठा रहा है। यह लोगो 'आजकल' के नाम पर बनाया गया है।

आधुनिकता के नाम पर पुरानी मान्यताएं

● निर्मल वर्मा की प्रयोगधर्मिता को स्पष्ट करती भेंटवार्ता उपयोगी लगी। किंतु अंतर्मुखी रचनाओं की बहुलता ने निराश किया।

निराला जी ने रचना को प्रखर एवं उन्मुक्त बनाने के लिए मुक्तछंद का प्रयोग किया। उन्होंने कहीं भी भावना के स्पष्टीकरण को क्लिष्ट करते हुए भाषा को बिखरने नहीं दिया। किंतु स्तरीयता का जामा पहनी अस्पष्ट काव्यधारा को समझने के लिए सुधी आलोचकों का बोर्ड बैठाना पड़ेगा। क्योंकि प्रासंगिक सत्संग से यह संभव नहीं है। ध्यातव्य है जगदीश चंद्र की कविताएं 'कालवीथियों में' एवं 'शर्त' के साथ ज्ञानेंद्रपति की 'मशरूम वल्ड कुकुरमुत्ता'।

इन कविताओं से आत्मिक तुष्टि तो प्राप्त हो सकती है, किंतु, *हितेन सहितं साहित्यं* अर्थात् लोक कल्याण की भावना क्लिष्ट काव्यधारा की सहगामिनी न होकर कहीं उपेक्षित-सी अटक जाती है।

आज की काव्य परंपरा उन्मुक्त छंद के बहाने छंदहीन हो रही है। फलतः कविता एवं साहित्य की अन्य विधाओं की अलग पहचान कठिन होती जा रही है। ऐसी परिस्थितियों में संपूर्ण विधाओं को काव्य कहने की प्राचीन परंपरा पुनर्जागृत हो रही है। एक तो बात स्पष्ट है कि ये सभी कविताएं रसात्मक हैं।

अतः *वाक्यं रसात्मक काव्यम्* की परिभाषा पुनः सशक्त होकर उभरेगी तब साहित्य की सभी विधाओं की अलग पहचान नहीं रह सकेगी। ऐसी परिस्थिति में एक नई मध्यमार्गी परंपरा का जन्म अनिवार्य है। आशा करता हूं कि ऐसी परंपरा के जन्म एवं प्रदर्शन का दायित्व *आजकल* पत्रिका स्वीकार करेगी।

— अखिलेश कुमार मिश्र,
भोजपुर

सामयिक प्रश्न

● निर्मल वर्मा से राजेश वर्मा द्वारा की गई बातचीत में कई महत्वपूर्ण और सामयिक प्रश्न उठाए गए हैं। इसके साथ ही समकालीन आलोचना पर निर्मल वर्मा का आलेख तथा कथा संग्रहों पर उनके रचनाकर्म का मूल्यांकन उनके लेखकीय व्यक्तित्व की कई परतें खोलता है। भारतेंदु कालीन मासिक पत्र *धर्मदिवाकर* और तत्कालीन पत्रकारिता विषयक लेख ऐतिहासिक दस्तावेज होने के कारण संग्रहणीय है।

सुलतान अहमद द्वारा समकालीन कविता में की गई शिल्पगत रुढ़ियों की तलाश बहस

का मुद्दा है। इस पर विस्तार से बातचीत उठाई जा सकती है।

किशोर महांति का लेख 'उड़ीसा की नाट्य परंपरा', सुदर्शन वशिष्ठ का यात्रा वृत्तांत 'बर्फ के पहले' पत्रिका को समृद्ध बनाने में काफी सहायक है।

— भोलानाथ कुशवाहा,
मिर्जापुर

क्या हर घटिया चीज भारतीय है?

● अगस्त-सितंबर '96 अंक पढ़ा। केंदरानाथ अग्रवाल की चार कविताएं अच्छी लगीं। जिस बुलंद हौसले के साथ उन्होंने जिंदगी जीने की मशाल हमारे सामने रोशन की है, वह निश्चित ही एक आदर्श है। आदमी को हर स्थिति में जिंदगी जीते जाना चाहिए, शायद यही उनका संदेश है। अशोक गुप्ता की कहानी 'सुरंग' पता नहीं किस सुरंग में घुसी रहती है! अंत तक सुरंग से बाहर ही नहीं निकल पाते अशोक जी। पूरी कहानी यहां से वहां भटकती रहती है। मुझे तो अफसोस होता है कि कैसी-कैसी रचनाओं का चयन एक राष्ट्रीय पत्रिका में छपने के लिए होता है।

असगर वजाहत का वृत्तांत 'इस पतझड़ में आना' अच्छा आलेख था। पाठक को बांध रखने का वजाहत जी ने अच्छा प्रयास किया है। इस आलेख में एक-दो बातें बहुत ही कमजोर लगीं। वजाहत साहब एक जगह लिखते हैं — 'लंदन के सिर्फ एक पुल 'टावर ब्रिज' को

छोड़कर बाकी तो लगता है, भारतीय इंजीनियरों ने बनाए हैं।' समझ में नहीं आता कि आप क्या कहना चाहते हैं। मैं जहां तक समझा हूं तो यही कि विश्व में कहीं भी जो भी घटिया, कमजोर चीज है, वह भारतीयों ने बनाई है। शायद यही कहना चाहते हैं वह। भारत और भारतीयों के प्रति जो उनकी सोच है, वह इतनी घटिया किस्म की होगी, समझ में नहीं आता। चंद पढ़े-लिखे लोग जो विदेश क्या चले गए, वहां की हर चीज के इतने हिमायती हो गए कि जिस जमीन ने उन्हें खड़ा होना सिखाया, जिस धरती ने उन्हें पाल-पोसकर बड़ा किया, जिस भाषा ने उन्हें बोलना सिखाया, उसी को ले जाकर कटघरे में खड़ा कर दिया। मुझे तो लगता है कि ऐसे लोगों का बस नहीं चलता, नहीं तो वे ताजमहल से लेकर हर अच्छी चीज को विदेशी सोच की उपज मान लें। कम से कम कुछ लिखने से पहले वह एक बार सोच तो लें कि क्या लिख रहे हैं। वह आगे लिखते हैं कि 'भारत में भी मैंने कुछ पुराने पुलों पर ऐसे शेर देखे हैं।' तात्पर्य यह कि भारत की कला हमेशा विदेशियों की देन है। भई वाह, क्या बात है!

साक्षात्कार 'उधार के इश्क से शायरी नहीं होती' में उर्दू कवि अहमद फराज से बातचीत अच्छी लगी। उन्होंने शायरी के जन्म का जो खुलासा किया है, वह उनकी अच्छी पकड़ की ओर संकेत करता है।

— गजेन्द्र नामदेव, सागर

निर्मल संवाद

● निर्मल वर्मा जी के बातचीत एवं साहित्यालोचना से काफी प्रभावित हूँ। लेकिन इस पत्रिका के माध्यम से उनसे संवाद करना चाहता हूँ कि 'साहित्य चेतना को संगठित नहीं करता ...' — यह विचार कहां तक बौद्धिक रूप से लिया जाए? यह तय है कि साहित्यिक समाज का दर्पण है, विचार है, दृष्टि है। इस वैशिष्ट्य के कारण चेतना विकसित होती है और वह चेतना समाज में व्याप्त उस सच को एक साथ प्रभावित करती है, एक साथ उद्घेलित करती है। संभव है, विचार की बहुआयामी प्रस्तुति हो, लेकिन चेतना का सीधा टच उसका (स्थिति/परिस्थिति) सच है। ऐसी स्थिति में हम एक सूत्र में बंधते हैं। विघटित नहीं होते।

— अरुण अभिषेक, पूर्णिया

खेल और लेखक

● 'प्रसंग' में आपने लिखा है कि हिंदी में खेल संबंधी विषयों पर लिखने की परंपरा नहीं है और शायद हिंदी में लिखने वाले लोगों को इस विषय में रुचि नहीं है। शायद आपको पता न हो कि प्रभाष जोशी जनसत्ता में क्रिकेट पर बराबर लिखते हैं। शायद इसी कारण आपने अपनी टिप्पणी में उनका उल्लेख नहीं किया।

— महेंद्र राजा जैन,
इलाहाबाद

(हमारा इशारा रचनात्मक लेखकों की ओर था - संपादक)

आजकल की मर्यादा

● कथाकार एवं चिंतक निर्मल वर्मा के साथ राजेश वर्मा की बातचीत से साहित्य साधकों को साहित्य का दिशात्मक बोध होगा। कहानी 'भय' में कहानीकार ने स्त्री के शरीर का नग्न चित्र खींच डाला है, हालांकि यह मर्यादा का उल्लंघन नहीं है, आजकल की मर्यादा का उल्लंघन हुआ-सा लगा।

— गोविंद ठाकरे 'विश्वमित्र',
बालाघाट

एक सुझाव

● इस अंक की कविता 'टेलीविजन स्क्रीन पर' (राकेश रेणु रचित) की अंतिम पंक्तियों को अगर इस तरह लिखा जाए तो शायद यह कुछ ज्यादा खूबसूरत लगेंगी — हम अपने बच्चों की तरफ देखते हैं चुंधियाई आंखों से, वे मगन और मस्त होते हैं, यहां तक कि अनभिज्ञ अपने पिता और माता की निकटतम उपस्थिति से भी। मांओं को उठती है फिक्र अचानक सब्जी के जलने या दूध के उबलने की, उजबक बैठे हम, तलाश करते हैं रुचि के कारण अपनी ऊब और कल के कार्यक्रमों में दिलचस्पी के पल, चलता रहता है अनवरत सब कुछ शायद है यह अगले युग की त्वरित गति।

— मयंक कुमार,
ग्रा. सिकरहुला, बेगूसराय

साहित्य का संकट

● अनिल चमड़िया का यह कथन सच्चाई के नजदीक है कि कुछ लिखा क्यों नहीं जा रहा है। बेशक हम जो कुछ पढ़ रहे हैं, वह लिखना उस अर्थ में कतई लिखना नहीं है जो अपेक्षित है, जरूरी है। यह स्थिति कैसे निर्मित हुई? मेरा निजी अनुभव है कि एक नवलेखक के तौर पर आपको न लिखने दिया जा रहा है और न ही छपने। यह बात जितनी पत्रकारिता के बारे में सच है, उतनी ही साहित्य लेखन के बारे में भी।

उदय प्रकाश ने एक कहानी लिखी 'पाल गोमरा का स्कूटर'। हर दृष्टि से यह एक अद्वितीय रचना है जो अपने वक्त के बीहड़ भविष्य की खाई में झांककर हालात का अचूक जायजा लेते हैं। पर इसे कोई घटना नहीं माना गया और एक अच्छी रचना बड़ी निर्दयता से नजरअंदाज कर दी गई। क्या संकट सिर्फ अच्छी रचना की अनुपस्थिति का है या उसकी पहचान का भी? मुझे लगता है, दोनों तरह के संकट हैं। यह खराब स्थिति है क्योंकि यह हमें किसी ऐसी गहरी खाई में गिरा सकती है जहां से निकलने में एक युग लग जाए।

— अब्दुल हलीम खान,
बिलासपुर

बाबा ने ठीक ही कहा

● आज की कविताएं जटिल होती जा रही हैं। कविताओं में

सहज-सपाट शैली, ज्ञान की प्रखरता एवं मानवीय तीव्र संवेदना का अभाव है। यह एक अनोखा कर्म रह गया है। पन्ने भर जा रहे हैं। कविताएं जनमानस से न जुड़कर साहित्यकारों तक सीमित होती जा रही हैं। ऐसी विकट स्थिति में बाबा ने ठीक ही कहा कि कोर्स में लगी कविताएं सुहागिन होती हैं।

दस वर्ष पूर्व पढ़ी गई बाबा की कविता का भावार्थ आज भी मेरे मानस पटल पर अंकित है जिसमें बाबा ने पूर्णिया जिले के एक शिक्षक को वेतन के अभाव में छः माह तक कर्मी का साग खाकर जीवित रहने की पीड़ा को उसकी मृतात्मा की बयानबाजी में अभिव्यक्त किया है।

— राजेंद्र प्रसाद 'राजू',
कटिहार

भूल सुधार

● नवंबर, 1996 अंक में पृष्ठ 46 पर 'ज्ञान की निरंतर यात्रा' लेख के अंतर्गत चर्चित पुस्तक *विज्ञान का इतिहास* के प्रकाशक हैं : शब्दकार, दिल्ली-110092

● जनवरी, 1997 अंक में पृष्ठ 48 पर प्रकाशित चित्र के परिचय में गलती से 'मेकिंग आफ महाभारत' चला गया है। इसकी जगह 'मेकिंग आफ महात्मा' होना चाहिए। इसका हमें खेद है।

— संपादक

कलाकार की महत्ता

● 'भारतीय मूल्यों के कलाकार : हेब्बार' पढ़ा। समकालीन कला को नया आयाम देने वाले सुविख्यात कलाकार ने 'स्वदेशी' तत्व को जोड़कर अपनी महत्ता को दर्शाया है। हेब्बार ने जिस प्रकार प्रतिष्ठा की बुलंदियों को छुआ, वह किसी भी कलाकार के लिए मुश्किल है। हेब्बार अन्य कलाकारों की भांति नहीं थे। उन्होंने कला की संपूर्णता को जीवन भर मौलिकता के रूप में देखा और नकल की प्रवृत्ति का तीखा विरोध किया। भारतीय कलाकार किसी न किसी पश्चिमी कलाकार की नकल करने लगे थे, लेकिन हेब्बार ने इसका विरोध करते हुए कलाकार की महत्ता या महानता को बताया।

— पंकज कुमार यादव,
इलाहाबाद

काल-चिंतन की ज्यामिति

● अक्टूबर अंक को आद्योपांत पढ़ गया। कुबेरनाथ राय का लेख 'काल-चिंतन की ज्यामिति' काफी बोधपरक एवं ज्ञानवर्द्धक है। काल की अवधारणा के मूल में है आवर्तन-तत्त्व। सूर्य, चंद्र, नक्षत्र, गणों और ऋतुचक्र का आवर्तन इसका संकेत देता है। प्रस्थान बिंदु से चलकर पुनः उसी बिंदु पर लौटना। ऐसा यात्रा-पथ 'वृत्तीय' ही होगा, एकैरैखिक नहीं। काल की वृत्ताकार अवधारणा के संकेत पश्चिम में इस शताब्दी के साहित्य में स्वीकृत हुए हैं और शब्दों तथा वाक्यों के प्रयोग में 'व्योम', काल

सातत्य तथा रूप-विधान की वृत्ताकार कल्पना में इन तथ्यों का आवेश देखा जा सकता है। अर्नाल्ड टॉयनबी और टोनी मैक्सबेवर ने समाज-विकास की व्यवस्था/व्याख्या में इसी वृत्तीय अवधारणा का उपयोग किया है।

पुस्तक-चर्चा स्व. कुबेर नाथ राय के भारतीय-संस्कृति और चिंतन से जुड़े मूलभूत प्रश्नों को सम्यक् रूप से उठाती है और इस क्रम में कुछ भ्रांतियों को भी दूर करती है। पुस्तक में हिंदू-संस्कृति के आर्योत्तर-संबंधों पर उचित प्रकाश डाला गया है।

रतीलाल शाहीन का दया पवार से साक्षात्कार 'मूल्यों की लड़ाई लगातार चल रही है'—काफी ज्ञानवर्द्धक है। दया पवार एक दलित लेखक हैं। उनका मत है कि दलित लेखक का आर्थिक स्तर ऊंचा उठ जाए तो उसका यह अर्थ नहीं कि वह कुंठित हो जाए। हमारे चिंतन में अंतर्विरोध है।

कला पर हेब्बार, नंदलाल बसु आदि के 'स्वदेशी-तत्व' भारतीय ग्रामीण संस्कृति को संदर्भित करती हुई नवीनता देते हैं।

— कलाधर, पूर्णिया

मार्मिक कहानी

● भीष्म साहनी की कहानी 'गौरैया' बहुत मार्मिक, हृदय-स्पर्शी लगी। हेब्बार पर आलेख इस अंक की महान उपलब्धि है। मराठी कहानी 'फांसी का फंदा' भी अपने आप में लाजवाब लगी। कुल मिलाकर इतना तो कहा ही जा सकता है कि यह अंक अपने

आप में एक महत्वपूर्ण अंक का स्थान लेने में कामयाब रहा है।

— पंकज कुमार झा, सहरसा

औरों को भी आमंत्रित करें

● यों तो सभी आलेख अच्छे हैं, मगर मुझे कुबेरनाथ राय, प्रकाश सत्येन नटराजन, ज्योतिष जोशी के आलेख उत्कृष्ट लगे। दया पवार से रतीलाल शाहीन की बातचीत भी अच्छी लगी। दोनों कहानियां मर्मस्पर्शी एवं यथार्थपरक लगीं। पुस्तक चर्चा में सिर्फ एक लेखक के ही विचार क्यों परोसते हैं? 'साक्षात्कार' की तरह किसी खास पुस्तक पर एक से अधिक लेखकों के विचार क्यों नहीं आमंत्रित करते? खासकर प्रवृद्ध पाठकों को भी इसमें शामिल किया जाए। कविताएं एवं गीत हर बार की तरह प्रशंसनीय हैं। समीक्षा एवं प्रसंग स्तंभ भी स्तरीय हैं। साधुवाद।

— रमण कुमार सिंह,
विसनपुर-सुपौल

कविताएं हिलकोर गईं

● कुबेरनाथ राय के द्वारा 'काल-चिंतन की ज्यामिति' के द्वारा काल की अवधारणा का विवेचन 'चिन्मय भारत' के अंशों का पदार्पण करती है।

कहानी 'गौरैया', 'फांसी का फंदा' दोनों अच्छी लगी। भीष्म साहनी और दया पवार काबिले-तारीफ हैं। नईम, सीमा, भारतेंदु मिश्र एवं ममता की कविताएं मन को हिलकोर गईं। अंतिम पृष्ठ में बाबा नागार्जुन की

फोटो प्रसन्न मुद्रा में देखकर अत्यंत सुकून मिला।

— कैलाश केशरी, दुमका (बिहार)
इलाहाबाद

● आजकल के ताजा दो अंक—अगस्त से अक्टूबर 96—मिले। पाठक जगत तक श्रेष्ठ पठनीय सामग्री पहुंचाने के लिए आपको बधाई।

सारे संसाधनों के बावजूद पत्रिका का बिलंब से प्रकाशित होना अखरता है।

— पुरुषोत्तम 'प्रशांत', हैदराबाद

कुबेरनाथ राय को श्रद्धांजलि

● हेब्बार के सारे रेखाचित्र 'नास्टेलजिक' विचारों की अभिव्यक्ति-से प्रतीत होते हैं, जब कि नंदलाल बसु के संस्मरणों में शब्दों की कंजूसी है। और पन्ने, और व्यापक समीक्षकीय दृष्टि अपेक्षित थे। एक बात मेरे जैसे भोंदुओं की खलती है कि कलाकारों के चित्र तो दिए जाते हैं पर उनकी अभिव्यक्ति की मीमांसा नहीं की जाती है। इसलिए, हम सभी अर्थ का अनर्थ लगाते हैं या निरर्थक माथा मारते रह जाते हैं। जो हो, इन कलाकारों ने कला को जो ऊंचाई दी है, वह स्मरणीय है। उन्हें मेरी भी श्रद्धांजलि। साथ ही ललित निबंधकार स्वर्गीय कुबेरनाथ राय को कैसे भुलाया जा सकता है? उनके निबंधों ने न केवल हमें गुदगुदाया है, बल्कि प्रज्ञा-उत्कर्ष में भी सहायता दी है। उन्हें भी मेरी हार्दिक श्रद्धांजलि।

— अनिल ठाकुर, समेली,
कटिहार

“हम अपने विगत को नकारने में लगे हैं”

अडूर गोपालकृष्णन भारतीय सिनेमा के बहुचर्चित निर्देशकों में से हैं। उनकी फिल्में मानवीय अस्तित्व के संकट को बहुत ही साहस के साथ अभिव्यक्त करने का प्रयत्न हैं। 1972 में निर्देशित उनकी पहली फिल्म *स्वयंवरम्* से लेकर अब तक जितनी भी फिल्में उन्होंने बनाई हैं, वे सभी बहुप्रशंसित और पुरस्कृत हुई हैं। इस वर्ष उनकी फिल्म *कथापुरुषन* को गत वर्ष की सर्वश्रेष्ठ कथा फिल्म के रूप में सम्मानित किया गया तथा तिरुअनंतपुरम में हुए अंतर्राष्ट्रीय फिल्म समारोह में दिखाई गई और प्रशंसित भी हुई। पिछले दिनों उनका एक साक्षात्कार अंग्रेजी दैनिक *एशियन एज* में छपा था। प्रस्तुत है इस साक्षात्कार से एक अंश :

फिल्म निर्माण में अकादमिक प्रशिक्षण का कितना महत्व है?

फिल्म निर्माण एक जटिल प्रक्रिया है जिसमें कई तकनीकी तत्व शामिल होते हैं। जब तक आप लेंसों और प्रकाश तथा दृश्यों (शॉट) आदि के बारे में नहीं जानते, आप इस माध्यम में दक्ष नहीं माने जा सकते। यही नहीं, रचना का एक अंतिम रूप नहीं होता, जिसको प्राप्त करने के लिए सबको काम करना होता है। आप जीवन को अपनी तरह से व्याख्यायित कर सकते हैं, लेकिन आपके पास कहने को कुछ नया होना चाहिए और कहने का तरीका भी नया होना चाहिए। वास्तव में, यही असली चुनौती है। अकादमिक प्रशिक्षण इसी तरह है, जिस तरह मानो कोई

लेखक आधारभूत व्याकरण का ज्ञान प्राप्त करता है। एक बार आप नियम जान लेते हैं तो उन्हें तोड़ भी सकते हैं, लेकिन जब आप नहीं जानते तो आप उनसे आगे नहीं जा सकते।

क्या यह भी इतना ही महत्वपूर्ण है कि दर्शकों को फिल्म देखने का प्रशिक्षण दिया जाए?

यह दृष्टिकोण का सवाल है। एक बार आप बुरी आदतें पैदा कर लेते हैं तो उनसे बचना मुश्किल हो जाता है। अगर आप व्यापारिक सिनेमा की क्षुद्रताओं से बंध जाते हैं तो यह निश्चित है कि आप फिल्म के बारे में कई गलत धारणाएं बना लेंगे। मैं सिर्फ फिल्म की ही बात नहीं कर रहा हूं। केरल में अब युवा पीढ़ी के मुट्ठी भर ही लोग ऐसे हैं जो कथकली देखते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि हम अपने विगत को ही नकारने में लगे हैं। एक सही आधार न होने के कारण वे, वर्तमान में जो अच्छा है, उसे भी नहीं अपना पाते। यह वह खतरनाक स्थिति है, जिसमें हम साक्षरता आदि की ऊंची-ऊची बातों के बावजूद आज पहुंच गए हैं। अक्षर ज्ञान अपने आप में काफी नहीं है। हमको यह देखना होगा कि वे पढ़ क्या रहे हैं। जहां तक मैं जानता हूं, प्रमुख साहित्यिक पत्रिकाओं की प्रसार संख्या तेजी से गिर रही है। यही नहीं, बहुत ही कम लोग ऐसे हैं जो स्कूल में मलयालम पढ़ते हैं।

अपने जीवन की शुरुआत से ही वे अंग्रेजी पढ़ते हैं। इसके परिणामस्वरूप न वे अंग्रेजी में दक्ष हो पाते हैं, न ही अपनी मातृभाषा में। अपनी जड़ों का, संस्कृति का,

विगत का और यहां तक कि वर्तमान का एक सर्वव्यापी नकार चल रहा है।

यह भविष्य के प्रति एक असुरक्षा के डर के कारण पैदा होता है कि जीवन में कुछ बेहतर चीजों को पाने के लिए हमें उस सबको भुला देना है, जिसकी हम वास्तव में उपज हैं।

कविता की भाषा

अपने रचना कर्म और जीवन पर खुपति सहाय फिराक के विचार उनकी पुस्तक *बन्ने जिंदगी रंगे शायरी* में सम्मिलित हैं। प्रस्तुत है इस पुस्तक से एक उद्धरण :

मैंने अपनी रचनाओं में यही प्रयास किया है कि हम काव्यात्मक और कलात्मक चेतना से, मनन और विवेक से ऐसे अनुभव प्राप्त कर सकें जिसमें संसार से अलग किसी खुदा, ईश्वर, मजहब, पूजा-पाठ, सिद्धा-दंडवत या सांप्रदायिकता का कोई स्थान न हो।

ऐसा नहीं है कि मैंने सामाजिक या राजनीतिक जागृति पैदा करने के लिए कविताएं रची ही न हों। लेकिन यहां भी चिंतन और मनन कलात्मक है। ये कविताएं सामयिकता से ऊपर के स्तरों को छूती हैं। इनमें कर्म के लिए उपदेश नहीं है। बल्कि कर्म अपनी सीमाओं में रहता हुआ भी दिव्य बन गया है। अंत में यही कहूंगा कि मेरे नजदीक कविता वही है, जिसकी शब्दावली कोषों के उन शब्दों से न बनायी जाए जो समाज में प्रचलित नहीं हैं। जैसा कि अंग्रेजी के महाकवि वर्ड्सवर्थ ने बताया है कि शब्दों और वाक्यों में भाव और रस तभी पैदा होता है जब भावनाओं से

प्रेरित होकर सैकड़ों बरस तक साहित्यकार जनसाधारण की शब्दावली में अपने आंतरिक अनुभवों को व्यक्त करे। कविता की भाषा न कोषों में दफन रहती है, न दवात की रोशनाई में। करोड़ों की बोल-चाल को सुसंगठित करके कविता की भाषा बनती है। यही किया है सूर ने, तुलसी ने, कबीर और मीरा ने और यही किया है समझदार उर्दू कवियों ने। जिस तरह देहात का दर्जी फूहड़पन से कपड़े को काट कर भद्देपन से सिलकर कोट, कमीज, कुरता और दूसरे वस्त्र बनाता है, उसी तरह खड़ी बोली को फूहड़ या मुर्दार ढंग से प्रयोग करके कवि रचना, नागरता को चौपट कर देता है। खड़ी बोली के साथ बेढंगेपन का व्यवहार करके उसे अपरिचित शब्दों से बोझिल करके, शब्द-क्रम बिगाड़कर कविता करना खड़ी बोली की कोई सेवा नहीं है। अलबत्ता हमें एक दूसरे खतरे से भी सावधान रहना है, वह खतरा यह है कि हम केवल ऊपरी चमक-दमक और दिखावे की भाषा को कविता की भाषा न बनने दें। यह भाषा केवल शुद्ध, स्वाभाविक या टकसाली नहीं होनी चाहिए, इसे प्रभाववात्मक भी होना चाहिए, जिसमें हमारी चेतना डूब सके, जो हमारी चेतना को तल्लीन बना सके, जो कविता में संगीत और कर्णप्रिय झंकारें पैदा कर सके। शैली को न तो ठुकराने से काम चलता है, न उसकी ऊपरी और बाहरी सजावटों या बनावटों से कागजी फूल तराशने से काम चलता है। साधारण शब्दों के जीवित और दुखती हुई रंगों को छूने से जो भाषा बनती है, वही कविता की भाषा है।

लेख देखें पृष्ठ 6 पर

‘वो बज्मे-जिंदगी बदली वो रंगे-शायरी बदला’

अंजनी कुमार श्रीवास्तव

पूरे संसार की शायरी में प्रेम और सौंदर्य के संबंधों और प्रतिक्रियाओं की गूँज सुनाई देती है। जहाँ तक उर्दू शायरी का सवाल है, वह तो हमेशा ही मुहब्बत के गीत गाती रही है, हुस्न-ओ-इश्क की दुनियाएं बसाती रही है। कितने ही शायर और फनकार पैदा हुए, जिन्होंने प्रेम और सौंदर्य के सागर में गहरे जाकर ढेरों आबदार मोती निकाले और अपनी शायरी का शृंगार किया। मगर यह इतिहास का एक सच है कि एक जमाना गुजार लेने के बाद शायरी अपने मिजाज में कुछ न कुछ तबदीली या नएपन की मांग करने लगती है और यह जरूरी हो जाता है कि साहित्यिक दृश्य पर कोई ऐसी शख्सियत उभरे जिसके अंदर हवा के रुख को बदल देने की जादुई ताकत मौजूद हो। एक प्रतिभावान कवि अपनी शायरी में नई संभावनाओं की तलाश करता है, उसे एक नई दिशा और एक नया आयाम देता है। पश्चिम के मशहूर कवि एजरा पाउंड ने ठीक ही कहा है कि ‘सच्चे कवि का फर्ज होता है हमेशा कुछ नया जोड़ना और उसके जरिए शिल्प और भाव-बोध में कुछ ऐसा योगदान करना कि कविता अपने मौजूदा स्वरूप से आगे बढ़ जाए।’ उर्दू कविता के मैदान में फिराक गोरखपुरी का कदम रखना कुछ ऐसी ही बात थी जिसके अंदर आने वाले दिनों की शायरी के स्वर में एक नए किस्म की गंभीरता, एक ताजगी और एक नया सुहानापन पैदा हो जाने की पूर्व सूचना छिपी हुई थी।

क्या खास चीज थी, कौन-सी वे खूबियां थीं जिनकी वजह से शायरी में फिराक एक नई आवाज कायम कर सके? इस सिलसिले में अनेक बातें कही जा सकती हैं, मगर मेरी समझ से जो बात सबसे अहम है, वह यह कि बहुत ही जबर्दस्त और बेमिसाल थे फिराक की शक्ति के, उनकी प्रेरणा के स्रोत। कई तरह की आहटें और अनुगूँजें थीं जिनसे उनके चिंतन की राह निकलती थी। हिंदू-संस्कार उनकी रंगों में थे। मुल्क की तहजीब उनके रोम-रोम में बसी हुई थी। संपूर्ण मानव-जीवन और मानवता उनकी चेतना में व्याप्त थी। *रामायण*, *महाभारत* और उपनिषदों के अध्ययन से उनकी अंतरात्मा पर एक भरपूर प्रभाव पड़ चुका था। भारतीय दर्शन के खास तत्व उनके जेहन में थे। कालिदास की कविता ने सौंदर्य-बोध की नई लताफतों से परिचित करा दिया था। तुलसी और सूर के पदों ने उनके मन पर एक अमिट छाप छोड़ दी थी। मीर और गालिब की शायरी भी उनमें रच-बस गई थी। अंग्रेजी साहित्य का बेशकीमती खजाना हाथ लग चुका था और अंग्रेजी के ही जरिए विश्व-साहित्य के बेहतरीन हिस्से में उनकी गहरी पैठ हो चुकी थी। और हां, आजादी की लड़ाई के दिनों में जब वह जेल में थे तो जवाहरलाल नेहरू, मौलाना अबुल कलाम आजाद और हसरत मोहानी जैसे दिग्गज अदीबों की एक अरसे तक दिन-रात की सोहबतों ने शेर-ओ-सुखन की राह में शमा का काम किया था। फिर उनकी अपनी प्रतिभा, अपना विवेक, जीवन की अनुभूतियां, संवेदनशीलता, विचारों की सूक्ष्मता और भावों की तीव्रता, प्रेम-परिकल्पना, हुस्न-ए-एहसास और इन सारी चीजों

का एक रंगीन मिलाप सोने में सुहागा साबित हुआ।

इस पृष्ठभूमि और ऐसी मानसिकता के साथ शायरी का सफर शुरू करने से कुछ नई राहों का निकल आना या नई सुरतों का पैदा हो जाना कोई अस्वाभाविक बात न थी। गौर करने की चीज है कि फिराक की आरंभिक रचना-यात्रा की गति बहुत ही धीमी थी जिसकी वजह बताते हुए उन्होंने खुद ही लिखा है : ‘... बात यह थी कि शायरी करने की बनिस्बत उर्दू शायरी ने हमें जो सरमाया दिया है, उसकी जांच-पड़ताल में मुझे गहरी दिलचस्पी थी। उस पर नजर डाली तो उसमें बहुत कुछ खूबियां नजर आईं, लेकिन कमियां और खराबियां भी बहुत मिलीं।’ आगे चलकर अपने एक काव्य संकलन की भूमिका में उन्होंने अपनी बात यूँ रखी : ‘... मुझे उर्दू साहित्य में अच्छी से अच्छी और ऊंची से ऊंची चीजें मिल चुकी थीं और मिलती रहती थीं। इन बातों के होते हुए भी मुझे मजमूई हैसियत से एक असंतोष का आभास होता रहता था। शायद इस कारण से कि मेरे अंदर हिंदू विचारों और हिंदू संस्कृति की गहरी से गहरी, बहुमूल्य सच्चाइयां और अनुभूतियां विद्यमान थीं, जो उर्दू कविता में कम ही मिलती थीं।’ और फिर इसी को स्पष्ट करते हुए उन्होंने अपने एक लेख में यहां तक लिखा कि ‘मुस्लिम कल्चर बहुत ऊंची चीज है और पवित्र भी, मगर उसमें प्रकृति, बाल-जीवन, नारीत्व का वह चित्रण या घरेलू जीवन की वह बू-बास नहीं मिलती, वो जादू भरे भेद नहीं मिलते, जो हिंदू कल्चर में हमें मिलते हैं। कल्चर की यह धारणा हिंदू घराने के बर्तनों में, खिलौनों में, यहां तक कि चूल्हे-चक्की में, छोटी-छोटी रस्मों में और हिंदू की सांस में इसी की ध्वनियां हिंदू लोकगीतों को अत्यंत मानवीय और स्वर्गीय संगीत बना देती हैं। ... उर्दू कविता में भारतीयता की हजारों सुंदर से सुंदर झलकियां तो खुद मुसलमानों ने दिखाई हैं। यह सब होते हुए भी मानवीयता और दिव्यता का संगम वहां नहीं दिखाई देता।’

फिराक के कहने के मुताबिक साहित्य-सर्जन हमारी चेतना की वह तपस्या है, वह साधना है जिससे हमारी विश्व-चेतना या आत्म-चेतना दिव्य बन जाए, जीवन और जगत की उलझी हुई गुलियां सुलझ जाएं। तभी तो वे कहते हैं :

कलम की चंद जुबिशों से और मैंने क्या किया
यही कि खुल गए हैं कुछ रमूज-से हयात के।

अपनी काव्य-रचना के क्रम में उन्होंने इस बात पर विशेष ध्यान दिया कि प्रेम-विषयक कविता को किस तरह से इंसान की पूरी जिंदगी का आईना बनाया जाए कि वह विचारोत्तेजक तो हो ही, साथ ही उसमें भारत और उसकी मिट्टी की खुशबू मिले और भारत माता के दिल की धड़कनें उसमें सुनी जा सकें। इसी मकसद को हासिल करने में फिराक कहते हैं :

यही मकसद हयाते-इश्क का है,
कि जिंदगी जिंदगी को पहचाने।

आखिर क्या है यह जिंदगी की पहचान, जिसे कवि ने इश्क का मकसद माना? यह है प्रकृति के असीम विस्तार में खो जाने की तबीयत और उसके अंदर छिपे हुए तमाम रहस्यों को ढूंढने, पाने और उसमें लीन हो जाने की हसरत। फिराक हमें उस सत्य का एहसास कराते हैं कि तहजीब की जड़ें धरती के सीने में फूटती हैं। जो आदमी धरती का नहीं, कुदरत की अपरिमित संभावनाओं में जिसकी आस्था नहीं, वह कहीं का नहीं —

खो जाओगे मनाजिरे - कुदरत में
अपने से बहुत करीब हो जाओगे,

प्रेम के व्यापक रूप से आंखें मिलाना हर रचनाकार के बस की बात नहीं होगी। ऐसी रचना गजब की परिपक्वता और अंतर्विस्तार की मांग करती रही है। साथ ही यह भी देखा गया है कि बड़े रचनाकार को किसी न किसी तरह के दर्द से रिश्ता कायम करना पड़ा है, कांटों से होकर निकलना पड़ा है और अपने दुख को जन-जन के सुख का संदेश बनाना पड़ा है। फिराक की अपनी जिंदगी में भी भीषण तूफान आया था और भीतर ही भीतर वह टूटने लगे थे, अपने आप को खोने लगे थे। मगर जितना ही खोया अपने आप को, उतना ही अपने को पाते भी गए। यह उनका किरदार था, उनका कमाल था। इस प्रकार उनका प्रेम-काव्य एक भयानक दर्द, पीड़ा और बेचैनी की देन है या किसी भंवर से बाल-बाल बचकर बाहर निकल आने की तस्वीर। इस ख्याल की परछाई उनके ढेरों अशआर में दिखाई देती है :

न पूछ कितना जिया हूं मैं न पूछ कैसे जिया हूं मैं
कि अबद की आंख भी लग गई मेरे गम के शामे दराज में!

शिव का विषपान तो सुना होगा
मैं भी ऐ दोस्त पी गया आंसू!

तारों को, हवाओं को, फिजाओं को सुला के
ऐ रात कोई आंख अभी जाग रही है।

प्रेम की पीड़ा से उपजी उनकी बेहतरीन शायरी काव्य-प्रेमियों के लिए सुख का उपहार बन गई, एक आशीर्वाद बन गई। उनकी रचनाओं में गहरे जाकर देखिए तो अक्सर उनके आंसू झलकते नजर आते हैं। और उन आंसुओं में करुणा का स्वर है, न कि निराशा की बू-बास। प्रेम में चोट खाए इंसान को फिराक की शायरी में एक फरिश्ते के हाथ का स्पर्श मिलता है जो उसे गजब की शांति और सुकून देता है, उसका हौसला बढ़ाता है, उसके अंदर नई उम्मीदें जगाता है :

ये शबे-दराज भी कट गई वो सितारे डूबे वो पौ फटी
सरे-राह गफलते-ख्वाब से अब उठो कि वक्ते सहर भी है।

रंजो-राहत, वस्तो-फुरकत, होशो-बहशत क्या नहीं
कौन कहता है कि रहने की जगह दुनिया नहीं।

वो रुकी-रुकी सी शबे-मर्ग खत्म पर आई,
वो पौ फटी वो नई जिंदगी नजर आई।

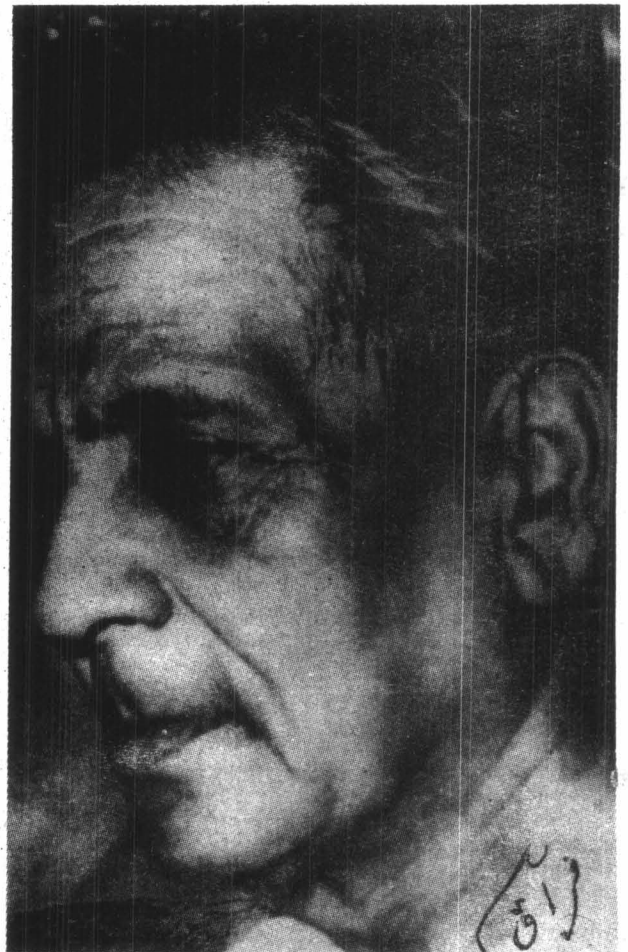
यह फिराक ही थे जिन्होंने उर्दू शायरी में प्रेमी और प्रेमिका को एक खास शख्सियत दी, एक नए अंदाज में उन्हें पेश किया। उनकी शायरी में प्रेमी या आशिक स्वभाव से बहुत भारी-भरकम है, एक प्रबुद्ध इंसान की गरिमा है उसमें। किसी भी तरह का हल्कापन या छिछलापन उसे कतई पसंद नहीं। कोरी भावुकता उसकी नजर में एक कमजोरी है। प्रेम में निस्संगता जरूर अपना काम करती है, पर मानसिक कमजोरी या गिरावट नहीं आने पाती। आशिक अच्छी तरह से जानता है कि वह चीज क्या है और उसकी कौन-सी हरकत या किस हद तक उसका झुकना उसके गौरवशाली व्यक्तित्व के लिए वाजिब होगा।

छोड़ वफा-ओ-जफा की बहसें, अपने को पहचान ऐ इश्क
गौर से देख तो सब धोखा है, कैसी वफाएं, कैसी जफाएं!

मैं मुद्दतों जिया हूं किसी दोस्त के बगैर
अब तुम भी साथ छोड़ने को कह रहे हो, खैर!

कुछ आदमी को हैं मजबूरियां भी दुनिया में
अरे वो दर्द-मुहब्बत सहेी तो क्या मर जाएं!

रही बात प्रेयसी की, तो वह भी अपने को किसी के मुकाबले कमजोर नहीं मानती। फिराक की नजर में प्रेयसी अत्यंत महत्वपूर्ण है, उसकी अपनी एक हैसियत है, अपना एक अस्तित्व है। जहां आशिक खुद अपनी बुद्धिमत्ता



फिराक गोरखपुरी

का आदर करता है, वहां महबूबा के दिमाग का भी कायल है वह, या यूँ कहें कि बिल्कुल बराबरी का दावा है। और जब मानसिक स्तर पर समानता हो गई तो फिर टकराव कैसा! यह तो दो सुलझे हुए व्यक्तियों के बीच एक सामंजस्य वाली बात हो गई।

हमारी हर नजर तुझसे नई सौगंध खाती है
तो तेरी हर नजर से हम नया पैगाम लेते हैं।

इसमें कोई शक नहीं कि पैगाम देने वाली नजरें उसी प्रेयसी की हो सकती हैं जिसका अपना व्यक्तित्व हो, एक शख्सियत हो। जो खुद का कुछ नहीं, जिसने कोई पहचान नहीं बनाई अपनी, उसकी नजरों से कोई क्या पैगाम लेगा?

फिराक की व्यक्तित्व-संपन्न महबूबा हमेशा ही अपने आशिक के उत्थान का कारण बनी है और उसके प्रभाव से प्रेमी के अंदर अनेक परिवर्तन आए हैं। जीवन में हर ऊंचाई को हासिल करने में प्रेयसी से मिली प्रेरणा बेहद मददगार साबित हुई है, जिसे आशिक ने खुले दिल से स्वीकार भी किया है:

निगाहे-यार तुझसे अपनी मंजिलें मैं पाऊंगा
तुझे जो भूल जाऊंगा तो राह भूल जाऊंगा।

...
जो छुपाए न छुपे और बताए न बने
दिले-आशिक को इन आंखों से कोई राज तो दे।

...
एक फुसूं-सामां निगाहे-आशना की देर थी
इस भरी दुनिया में हम तनहा नजर आने लगे।

...
मैं पूछता तो हूं मगर जवाब के लिए नहीं
ये क्यों तेरी नजर फिरी ये क्यों बदल गई हवा।

इतना ही नहीं, प्रेयसी का एक हल्का-सा स्पर्श किसी भी तरह की परेशानी या दुख-दर्द से उबार लेता है प्रेमी को :

तू हाथ को जब हाथ में ले लेती है
दुख-दर्द जमाने के मिटा देती है
संसार के तपते हुए वीराने में
सुख-शांती की गोया तू हरी खेती है।

फिराक अपनी महबूबा के हुस्न-ओ-जमाल का चित्रण करते हुए पग-पग पर हमें उसकी पवित्रता और शुद्धता का एहसास दिलाते हैं :

दिलों को तेरे तबस्सुम की याद यूँ आई,
कि जगमगा उठें जिस तरह मंदिरों में चिराग।

...
तकदीर से अब नहीं शिकायत, एक जलवा-ए-हकनुमा को देखा
ऐ दोस्त तेरी जफा को देखा, तुझको देखा खुदा को देखा।

गौर करने की बात है कि फिराक ने प्रेम को विवेक से अलग करके नहीं देखा। उनकी रचना में प्रेम अनेक मानसिक अनुभूतियों में से एक अनुभूति है। वहां भाव और विचार एक-दूसरे से जुदा नहीं होते और शायद इसी वजह से उनकी शायरी बेहद तहदार मानी गई है। मशहूर आलोचक मोहम्मद हसन अस्करी ने बहुत मार्क की बात कही है कि 'फिराक की शायरी

आहटों की शायरी है, कहीं महबूब की आहट है, कहीं विश्व की, कहीं खुद उनकी अपनी मनोस्थितियों की।' किसी और समीक्षक के कथनानुसार, 'फिराक शेर नहीं कहते, जिंदगी और मुहब्बत के निकात पर तबसरा करते हैं ... इतना लतीफ और अमीक तबसरा कि शायरी से अलहदा एक मुस्तकिल लज्जत महसूस होने लगती है।' मिसाल के तौर पर :

बहुत पहले से उन कदमों की आहट जान लेते हैं
तुझे ऐ जिंदगी हम दूर से पहचान लेते हैं।

चुप हो गए तेरे रोने वाले
दुनिया का ख्याल आ गया है।

...
जब तक ऊंची न हो जमीर की लौ
आंख को रोशनी नहीं मिलती।

फिराक के प्रेम काव्य में वियोग को एक खास अहमियत हासिल है। मिलन या संयोग की अपनी मधुरता बेशक है, मगर वह सब कुछ तो नहीं। मिलन की चाह, बेचैनी, तड़प मिलन के मुकाबले कम आकर्षक नहीं है। प्रेम के टूटे संबंधों और बिखरी यादों को भी फिराक ने बेहद खूबसूरत बना दिया है :

ये नकहतों की नर्म रवी, ये हवा, ये रात
याद आ रहे हैं इश्क के टूटे तअल्लुकात।

...
अब दौरे-आसमां है न दौरे-हयात है
ऐ दर्द-हिज्र तू ही बता कितनी रात है।

...
किस देश को सिधार गई ऐ जमाने-यार
रंगी-लबों पे खेल के कुछ मुस्कराहटें।

...
अब यादें-रफ्तगां की भी हिम्मत नहीं रही
यारों ने कितनी दूर बसाई हैं बस्तियां।

फिराक की कविता की तह-ब-तह पर्तें, उसकी गहराई और अनेक फलक के विस्तार का जिफ्र हर आलोचक ने किया है। उनकी अदबी उड़ान और बेमिसाल मौलिकता अक्सर चर्चा का विषय बनती है। हिंदुस्तानी शायरी को उनकी देन कोई मामूली चीज नहीं है। उन्होंने शायरी की पुरानी नसों में नया खून दौड़ाया। उसे सांस्कृतिक मूल्य, मान्यताएं और कट्टे दीं। आशिक के अंदर स्वाभिमान और गंभीरता के स्वर जगाए। प्रेयसी को एक खास शख्सियत दी और उसके सम्मान को शायरी में उजागर किया। नारी का प्रेयसी रूप ही नहीं, बल्कि उसकी दूसरी भूमिकाओं और रूपों की ओर भी लोगों का ध्यान आकर्षित किया। वात्सल्य वर्णन और प्रकृति की रंगारंग झलकियों से शायरी को मालामाल किया। जीवन के अनछुए प्रसंगों पर रोशनी डाली और इस बात का यकीन दिलाया कि बड़ी शायरी शायर बनने की कोशिश से नहीं शुरू होती, बल्कि बेनाम चीजों के नामों की तलाश से शुरू होती है। शायद यही वजह थी कि अदब की दुनिया में उनकी एक मुस्तकिल और बेमिसाल जगह बन गई, उनकी वाणी युग-वाणी बन गई।

सच है :
फिराके-हमनवा-ए-मीरो-गालिब अब नए नम्रे
वो बज्मे-जिंदगी बदली वो रंगे-शायरी बदला।

फिराक की रचनाएं पृष्ठ 24 पर

कुल्हाड़ी, गीदड़ और

नीलिमा सिन्हा

रेखांकन : राजेंद्र गायकवाड़

कुल्हाड़ी

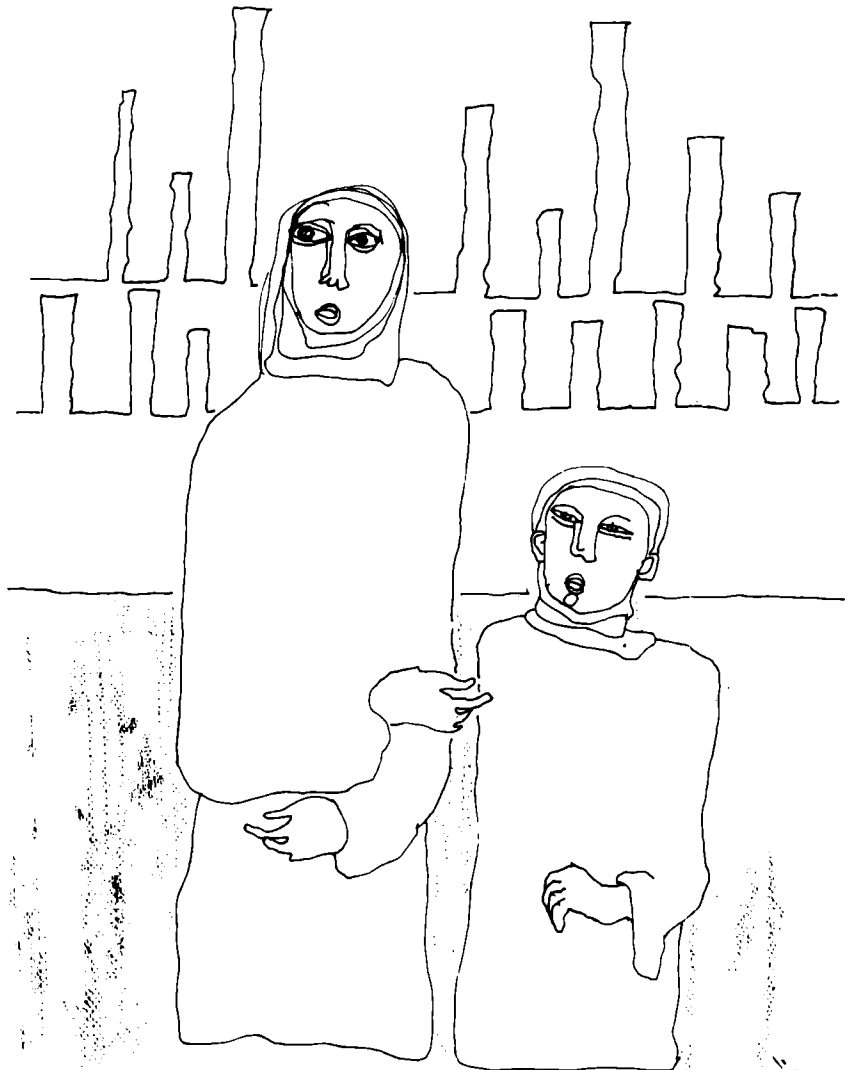
ठंडी हवा के बावजूद धूप तीखी थी। बरामदे में लोहे की मजबूत ग्रिल लगी थी और ग्रिल के बाहर लंबी कतार थी। आदमी-औरतों की इस कतार का अगला सिरा इमारत की छांव में था और पिछला खुले मैदान की धूप में। जो लोग छांव में खड़े थे, वे हवा की ठंडक से कांप रहे थे और जो धूप में थे, धूप की तल्लू से तिलमिला रहे थे। बेचैनी सबके भीतर डेरा जमाए थी और जब-तब चेहरे के परदे से झांककर हाव-भाव को बेकाबू कर जाती थी।

कतार में कुछ पिता थे, कुछ माताएं। जो माता या पिता कतार से बाहर थे, वे अपने बच्चों के साथ उलझ रहे थे, या बच्चों को उलझा रहे थे।

दिलीप ने कतार में खड़ी अपनी पत्नी से कहा, “तुम चाहो तो थोड़ी देर अभिषेक के साथ इधर-उधर घूम लो, या कहीं बैठ रहो, मैं कतार में लग जाता हूँ।”

नेहा झल्लाई, “मैंने कहा था न कि ठीक समय से निकल चलो! ... तुम्हारी देर करने की आदत ही नहीं जाती! दो मिनट की ही देर करो, पर करोगे जरूर। देखो उसका नतीजा! कतार कितनी लंबी हो गई है, और हम उसमें कितने पीछे हैं। ... अब थोड़ी देर में अभिषेक रोना शुरू करेगा, फिर दिलवा लेना उसका टेस्ट!”

अभिषेक अर्थात् उनका बच्चा। दिलीप ने नजरें घुमाकर देखा। थोड़ी दूरी पर अभिषेक सी-सॉ पर झूल रहा था। स्कूल का तमाम कंपाउंड सुंदर



राजेंद्र गायकवाड़

फूलों और रंग-बिरंगे कपड़े वालों बच्चों से सजा था। फूल गमलों में जड़ें जमाए हवा से अठखेलियां कर रहे थे और बच्चे मां-बाप की मौजूदगी का संबल धामे आसपास के झूलों, गोल चक्कर, सी-सॉ आदि पर धमा-चौकड़ी मचाए हुए थे। वातावरण में ऊष्मा बरकार थी, पर धूप जिस तरह तीखी थी और इंतजार जितना लंबा दिख रहा था, उससे लगता था कि वातावरण जल्दी ही गरमा जाएगा।

अचानक जमीन पर कुछ गिरने की आवाज आई। एक क्षण को जैसे पूरा दृश्य 'फ्रीज' हो गया। सबकी नजरें आवाज की ओर उठ गईं। स्टैंड पर रखा एक गमला जमीन पर लुढ़ककर टूट चुका था और एक नन्हा बच्चा वहां अपराधी भाव से सिर झुकाए खड़ा था।

अचानक बच्चे का पिता भीड़ में से निकला और हाथ बढ़ाकर बच्चे को भीड़ के बीच खींच ले गया।

सिस्टर अपने कार्यालय से बाहर निकलीं। एक नजर बिखरी मिट्टी, टूट गए गमले, नष्ट हुए पौधे पर डाली, फिर जैसे तोड़ने वाले को दूढ़ंती सिस्टर की दृष्टि गोलबंद भीड़ पर पड़ी। कल्ल का पूरा सबूत सामने था, पर कातिल गुम था। भीड़ ने, आदतन, कातिल की तलाश में कोई दिलचस्पी न दिखलाई।

सिस्टर वापस अपने चैंबर में लौट गईं। वातावरण फिर पुराने रंग पर लौटने लगा।

दिलीप ने अपनी पत्नी से मनुहार की, “बहुत देर से खड़ी हो, पांव दुखने लगेंगे। तुम बैठ लो, मैं लाइन में लग जाता हूं, अभिषेक को भी यहीं खड़े-खड़े देखता रहूंगा।”

दिलीप अपेक्षाकृत समझदार और ठंडे दिमाग का आदमी है। एक बैंक में अधिकारी है। पद का गुरूर और पैसे से उपजा आत्मविश्वास—दोनों ही उसके भीतर हैं।

नेहा दिल की साफ, पर जुबान की खुली है। एक सरकारी स्कूल में टीचर है। कुछ स्वभाव, कुछ पेशे का तकाजा—बोलती कुछ अधिक है, वह भी तेज प्रभावशाली अंदाज में। हां, शालीनता नहीं छोड़ती। दरअसल उसका व्यक्तित्व ही इतना शालीन है कि उसकी हर बात शालीन हो उठती है।

नेहा ने अवज्ञा से गर्दन झटककर सिर घुमा लिया। पत्नी की झल्लाहट भांपकर दिलीप वहां से हटकर बच्चे के पास आ गया। बच्चे के जूते

का फीता खुल गया था। दिलीप ने झुककर फीता बांधा, मोजों को उनकी पूरी ऊंचाई तक ऊपर खींच कर संवार दिया। बच्चे ने कदमों के पास बैठे पिता के कान में सिर झुकाकर धीरे से कहा, “डैड! शू-शू!” और दाएं हाथ की छोटी उंगली ऊपर उठा दी।

कतार चींटी की चाल से सरक रही थी। लोहे की ग्रिल के पास खड़ा चपरासी जरा-सा दाईं ओर तिरछा हटता तो लाइन के अगले दहाने पर खड़ा आदमी ग्रिल को पार कर बरामदे भीतर हो जाता था। उसके पीछे उसकी पत्नी और बच्चा भी बरामदे में समा जाते। अंदर सिस्टर, अर्थात् स्कूल की प्रधानाचार्या का कार्यालय था, जिसमें नर्सरी स्कूल के एडमिशन के टेस्ट चल रहे थे। अमूमन पांच से सात मिनट का समय एक ‘टीम’ अर्थात्, बच्चे और उसके माता-पिता को इस ‘टेस्ट’ से ‘निबटने’ में लगता। फिर वह ‘टीम’ बरामदे की ग्रिल के पिछले दरवाजे से निकल जाती और ग्रिल के अगले दरवाजे से कतार के दहाने पर खड़ी दूसरी ‘टीम’ ग्रिल के भीतर समा जाती।

नेहा ने कतार में अपने आगे खड़े लोगों पर दृष्टि डाली। उसने अंदाजा लगाया—उसे ग्रिल तक पहुंचने में तकरीबन तीन घंटे और लग सकते हैं। प्रायः डेढ़ घंटे से वह कतार में खड़ी है, तीन घंटे अभी और। ‘पैर थक गए’—अभी तो ऐसा सोचना भी मुमकिन नहीं था।

तीन साल, सात माह, दस दिन का अभिषेक पीले स्वेटर और हरी पैंट में डालियों के खिले फूल सा सुंदर लगा रहा था। धूप में खेल-खेलकर उसके गाल दपदप लाल हो रहे थे। ‘वाकई अभिषेक जैसा एक भी बच्चा नहीं दिखता’, नेहा ने मन ही मन सोचा, ‘दिलीप ठीक ही कहता है कि अपना अभिषेक ‘मॉडल-बेबी’ है। बड़े शहरों में होता तो अब तक विज्ञापन फिल्मों में काम कर रहा होता।’ नेहा अपने बच्चे को लेकर अभिभूत हो रही थी।

कतार में नेहा के आगे एक औरत खड़ी थी। किसी मध्यमवर्गीय पंजाबी व्यापारी की पत्नी दिख रही थी। वह कुछ ज्यादा ही बेचैन दिख रही थी। कभी इस पांव खड़ी होती, कभी उस पांव। एक दीला और अपेक्षाकृत लंबा हाफपैंट और फर वाला स्वेटर पहने एक बच्चा बीच-बीच में आता, उसका हाथ पकड़ता और आश्वस्त होकर फिर लौटकर खेल में मशगूल हो जाता था। बच्चा फिर आया, बच्चे ने हौले से उस औरत का हाथ छुआ और कहा, “आंटी ...!”

औरत ने बीच में ही बच्चे को झिड़क दिया, “देख! यदि सिस्टर के सामने इस तरह ‘आंटी-आंटी’

की रट लगाई तो घर चलकर मैं तुम्हें बहुत पीटूंगी। सिस्टर पूछें कि कौन हैं ये लोग, तो कहना — ‘मेरी मम्मी और मेरे पापा हैं—समझा?’”

नेहा ने गौर से औरत को देखा। ‘नन्हे बच्चे को झूठ बोलने की ट्रेनिंग दी जा रही है’—नेहा के भीतर की मास्टरनी का नैतिक दायित्वबोध सजग हो रहा था। नेहा ने उस औरत से पूछा, “यह बच्चा आपका नहीं है?”

“हां जी! मेरा ही है। घर में जेठानी के बच्चों की देखा-देखी ‘अंकल-आंटी’ कहना सीख गया है। जेठानी को ही ‘मम्मी’ बोलता है। अब, समझ लो जी, यदि सिस्टर के सामने भी मुझे ‘आंटी’ ही कह बैठा तब तो एडमिशन का चांस ही गया समझो। ... बिना मां-बाप के आए ये एडमिशन करते कहां हैं स्कूल वाले?”

यह औरत पढ़ी-लिखी और ‘माडर्न’ दिख रही थी, पर लहजे पर पंजाबीपना पूरी तरह हावी था। हिंदी इसी अर्थ में राष्ट्रभाषा है कि देश का हर नागरिक इसे अपनी मातृभाषा के संस्कार के साथ बोल जाता है, फिर भी हिंदी, ‘हिंदी’ ही रहती है—नेहा ने सोचा।

वह पंजाबी औरत इतनी-सी बातचीत के माध्यम से नेहा से दोस्ती का सूत्र जोड़ चुकी थी, “आप थोड़ी देर को सामने चबूतरे पर बैठ लो जी! मैं आपकी जगह देख लूंगी। फिर थोड़ी देर बाद आप आप आना तो मैं बैठूंगी। दोनों जनों को इस तरह बारी-बारी से आराम मिल जाएगा, वरना यूँ खड़े-खड़े, तो समझो, पांव ही टूट जाएंगे।”

नेहा इस प्रस्ताव पर विचार करे, इसके पहले ही उस औरत के आगे खड़ी औरत ने उस औरत के कंधे थपथपाए और उसका ध्यान अपनी ओर खींचती हुई बोली, “सुनिए! मैं जाकर बैठती हूँ। आप मेरी जगह देखिए। दस मिनट में वापस आकर मैं खड़ी होऊंगी, तब आप जाकर बैठ जाइएगा।”

आनन-फानन समझौता लागू हो गया। नेहा अपनी जगह खड़ी रही, वे दोनों औरतें समझौते के अनुरूप अपनी कार्रवाई में मशगूल हो गईं।

दोपहर के डेढ़ बजा चाहते थे। दिलीप ने नेहा के पास आकर कहा, “तुम जरा अभिषेक पर नजर रखना। मैं नुक्कड़ वाली दुकान से बिस्किट्स ले आता हूँ, उसे भूख लग आई होगी।”

“हां!” नेहा ने अपने आगे की कतार पर नजर डाली और बेचारगी से सिर हिलाया, “अभी घंटे-डेढ़ घंटे और लग सकते हैं। घर से चले चार



घंटे होने को आए। अब तक अभिषेक को भूख कैसे नहीं लगी, और वह रोया क्यों नहीं—यही आश्चर्य की बात है।”

फिर तनिक सोचकर नेहा ने कहा, “तुम ऐसा करो कि अभिषेक को भी साथ लिए जाओ। इतनी देर से खेल रहा है, थक भी गया होगा, ऊब भी रहा होगा। थोड़ा ‘चेंज’ उसे भी मिल जाएगा। वरना, अगर ज्यादा परेशान हुआ तो सिस्टर से ढंग से बातें भी नहीं कर सकेगा।”

“हां भई! बच्चे तो मन के राजा होते हैं।” दिलीप ने भी बेचारी से कहा, “पर हम और तुम कर भी क्या सकते हैं? इतने लोग खड़े ही हैं। जो सबका होगा, सो इसका भी होगा।”

“क्या बात करते हो?” नेहा तुनक गई, साठ सीटों के लिए सात सौ रजिस्ट्रेशन हैं। इनमें से ज्यादा बच्चों को तो दाखिला नहीं मिलना ही तय है। तुम क्या चाहते हो—अभिषेक को भी दाखिला नहीं मिले?”

अबके दिलीप भी गरमाया, “तुम भी कभी-कभी बददिमाग की तरह बातें करने लगती हो। क्या मैं ऐसा चाहूंगा कि मेरा बच्चा अपनी जिंदगी के पहले इम्हान में ही असफल रहे? मैं क्या चाहूंगा कि उसकी पढ़ाई की शुरुआत ही खराब हो? यदि मैं ऐसा चाहता तो शहर के किसी भी दूसरे स्कूल में इसका नाम लिखा जाता, यूँ चार घंटे से धूप में झख नहीं मार रहा होता।”

अब नेहा और दिलीप का वाग्युद्ध जोर पकड़ने लगा था। कतार में खड़े लोग उचक-उचक

कर उन्हें देखने लगे थे। अंततः नेहा ने दिलीप को घुड़का, “क्या तमाशा खड़ा कर रहे हो? सारे लोग हमें देख रहे हैं।”

“तमाशा तो तुम मेरा बना ही देती हो।” दिलीप ने धमकाते स्वर में नेहा से कहा और बेटे की ओर चल पड़ा।

तनाव और थकान दोनों की आपसी समझ, शालीनता और व्यवहार-बुद्धि पर हावी हो चुके थे। इन सारी बातों के बीच यह डर भी कुंडली काढ़े बैठा था कि यदि अभिषेक को इस स्कूल में दाखिला न मिला, तो? उनकी नजर में शहर में दूसरा कोई भी ऐसा स्कूल न था, जहां बच्चा गाली सीखने और मार खाने से बच सके।

प्रायः तीन बजने वाले थे, तब नेहा ने देखा कि कतार में उसके आगे सिर्फ एक ‘टीम’ अर्थात् मां-बाप और बच्चा खड़े थे।

ये लोग भीतर जाएंगे, तब मेरी बारी आएगी, नेहा ने सोचा और चैन की सांस ली।

इसी समय दिलीप के आगे-आगे दौड़ता हुआ अभिषेक आया और मां की उंगली थाम ली। नेहा ने जोर से बच्चे के चेहरे को देखा, वह थकान से चूर था। यदि मां के पास तक पहुंचने का लोभ न रहा होता तो इस वक्त कतई अभिषेक दौड़ता हुआ नेहा तक न आया होता। अभिषेक के पीछे दिलीप खड़ा था। नेहा ने दिलीप को घुड़का, “मैंने कहा था न इसे इतना न खेलने दो। देखो तो,

कितना थक गया है।”

“बच्चा खेलता नहीं तो क्या बैठकर रामायण पढ़ता?” दिलीप ने बुरी तरह खीझे स्वर में कहा। धीरे-धीरे उसका संयम जवाब देने लगा था।

“तुम अगर जल्दी तैयार हो जाते तो इतने लंबे इंतजार की नौबत ही नहीं आती,” नेहा की खीझ ने दुबारा दिलीप पर चोट की।

“तुम चुप भी रहोगी?” दिलीप ने नेहा को धमकाते हुए कहा। एक व्यावसायिक संस्था के व्यावसायिक प्रबंधक का मधुर व्यवसायी चोगा उतारकर उसके भीतर का खुरदुरा मर्द अब बाहर आने को आतुर हो रहा था।

नेहा ने विद्रोही भाव में चुप्पी साधकर मुंह घुमा लिया। माता-पिता के बीच की तलखी को भांपकर बच्चे के भीतर का तनाव बढ़ने लगा। उसने कसकर मां का हाथ पकड़ा। नेहा ने बच्चे की ठंडी मुट्ठी को थपथपाकर उसे आश्वस्त करने की कोशिश की। दिलीप ने रूमाल निकालकर बच्चे का चेहरा पोंछा, बालों में कंधी की और सिखलाया, “बेटा! अंदर जाकर सिस्टर को ‘गुड-मॉर्निंग’ कहना।”

बच्चा यह बात पिछले दसक दिनों में हजारवीं बार, और आज सुबह से पचासवीं बार सुन रहा था। उसने ऊबे स्वर में पिता को सुधारा, “गुड मॉर्निंग नहीं, गुड आफ्टर-नून।”

बच्चे की बात सुनकर कतार में नेहा के पीछे खड़े दंपति हंस पड़े। पुरुष ने दिलीप से कहा,

“भाई सा’ब! आपका बच्चा तो बहुत होशियार है। आप इसे क्या सिखलाइएगा, यही आपको सिखला रहा है। शाबाश! इसे ही कहते हैं, ‘कटोरे पे कटोरा, बेटा बाप से भी गोरा’।”

दिलीप खिसियाती हंसी हंस पड़ा। उसने बेटे को फिर सिखलाया, “बेटा! सिस्टर जो भी पूछे, ठीक-ठीक बतलाना।”

“ठीक!” बच्चे ने तोतली जुबान में कहा, “ए फार एपल भी बतला दूंगा और टेन फिगर्स भी गिन दूंगा।”

“भाई सा’ब! आपका बच्चा तो बहुत होशियार है। झिझकता भी नहीं है। इसको दाखिला तो मिला ही समझिए।” पीछे वाले सज्जन ने फिर कहा। उनके स्वर में इस बात का अफसोस कहीं छुपा था कि उनका बच्चा इतना ‘स्मार्ट’ नहीं है।

नेहा ने गर्व से अपने बच्चे को देखा। एडमिशन लिस्ट में सबसे ऊपर अभिषेक का ही नाम होगा—नेहा ने यह भी तय कर लिया।

“देखिए! भगवान करे। अभी उधर भी सारे लोग यही कह रहे थे कि इसे दाखिला जरूर मिल जाएगा। यह बोलता भी बहुत है, और जानता भी बहुत है भाई सा’ब!” दिलीप ने पीछे वाले सज्जन की बात का जवाब गर्व में भरकर दिया।

भीतर गए हुए सज्जन पिछले दरवाजे से बाहर निकल आए। चपरासी ने ग्रिल के खुले मुंह को थोड़ा चौड़ा किया, अपना बदन थोड़ा टेढ़ा किया, और एक आदमी के भीतर जाने भर की जगह बन गई। आगे-आगे दिलीप भीतर घुसे, पीछे से नेहा ने अभिषेक को ढकेलकर आगे किया और उसके पीछे खुद हो ली। ग्रिल एक बंद पैसेज में खुल रही थी। पैसेज के दाईं ओर दरवाजे पर पर्दा पड़ा था। सामने की दीवार में भी एक दरवाजा था, जिस पर एक आयानुमा औरत खड़ी थी, दरवाजे को उढ़काए हुए।

आयानुमा ने परदा पड़े दरवाजे की ओर इशारा किया। जिस क्रम में वे तीनों भीतर आए थे, उस इशारे को देखकर उसी क्रम में वे पर्दा हटाकर उस दरवाजे में दाखिल हो गए।

कमरे के बीचों-बीच एक बड़ी भड़कदार मेज थी। उसके पीछे की कुर्सी पर सिस्टर, अर्थात् स्कूल की प्रधानाचार्या बैठी थीं। नीले रंग की सादी, किंतु सुरुचिपूर्ण साड़ी। सौम्य चेहरे पर मृदु मुस्कान। दिलीप ने अभिवादन किया। नेहा ने भी। बच्चा हक्का-बक्का सा चुप रहा। नेहा ने बच्चे को धीमे

से टहोका लिया। बच्चे ने चौंककर मां को देखा।

दिलीप ने अशोभनीय स्थिति को संभालने की चेष्टा की, “बाबू! सिस्टर को ‘विश’ कीजिए।”

बच्चा ‘विश कीजिए’ का अर्थ संभवतः समझ नहीं पाया। मां ने बात स्पष्ट करने की चेष्टा की, “गुड आफ्टर नून कहिए।”

बच्चे ने कुछ बोलने का उपक्रम किया, पर गले से आवाज नहीं निकली। संभवतः उसका गला सूख रहा था। अपरिचित वातावरण ने उसे जैसे ठस और गुंगा बना दिया था। माता-पिता के अचानक परिवर्तित हाव-भाव को वह सहजता से स्वीकार नहीं कर पा रहा था।

सिस्टर ने टेबुल के सामने रखी कुर्सी की ओर इशारा करते हुए कहा, “प्लीज, बी सीटेड।”

“थैंक्यू सिस्टर”, कहकर नेहा और दिलीप ने स्थान ग्रहण किया। बच्चे ने लपककर मां की कुर्सी का हथ्या थाम लिया और वहीं खड़ा रहा। वातावरण का अजनबीपन उस साढ़े तीन साल के नन्हे अबोध बच्चे पर पूरी तरह हावी था।

सिस्टर ने कोमल स्वर में बच्चे से पूछा, “नाम क्या है आपका?”

बच्चे ने बोलने का उपक्रम किया, पर बोल न पाया। मां ने उत्साह बढ़ाया, “नाम बतलाओ।”

बच्चे ने सोचकर कहा, “अँ-अँ-अँ-अँ-अभिषेक।” यह आवाज वैसी ही थी जैसी सूखे कुएं में ढेला आ गिरा हो।

“गुड!” सिस्टर ने बच्चे को सहज करना चाहा, “इधर आइए अभिषेक! मेरे पास।”

प्रत्युत्तर में बच्चा मां की कुर्सी से और भी सट गया। उसने अपने बदन की पूरी ताकत से कुर्सी का हथ्या जकड़ रखा था।

मां ने धीरे से बच्चे के हाथ से कुर्सी छुड़ाने की चेष्टा करते हुए कहा, “सिस्टर के पास जाओ बेटा!”

बच्चा अपने स्थान से नहीं हिला।

सिस्टर ने फिर लुभावनी आवाज में कहा, “आइए अभिषेक। मेरे पास आइए। देखिए, यहां क्या-क्या है?”

अबके बच्चे की मां ने बलपूर्वक बच्चे को बाईं ओर धकेला और बच्चे के पिता ने आगे धकेल दिए गए बच्चे को मजबूती से थाम-ठेलकर उसे सिस्टर की बगल में पहुंचा दिया। बच्चे की दोनों आंखें आंसुओं से डबडबा गईं।

“ओ-के! ओ-के! इट्स ओ-के!” सिस्टर ने इस क्रूरता के लिए एक प्रकार से मां-बाप को फटकारा, फिर स्नेहसिक्त स्वर में बच्चे से बोली, “अच्छा, देखिए अभिषेक, इस टोकरी में कितने खिलौने हैं। आपको इनमें से जो पसंद है, ले लीजिए।”

बच्चा फिर निश्चल खड़ा रहा। बच्चे के माता-पिता फिर बेसब्र हो उठे। पिता ने तनिक कठोर स्वर में कहा, “टोकरी से सामान निकालो!”

सिस्टर ने कड़ी दृष्टि दिलीप पर डाली। दिलीप ने सकपकाकर निगाहें फेर लीं। इस बीच बच्चा नीचे झुककर टोकरी से एक खिलौना निकाल चुका था।

“हां! वेरी गुड! इसे मुझे दीजिए।” सिस्टर ने कहा।

बच्चे ने खिलौना सिस्टर के हाथों में थमा दिया। यह एक मिट्टी का संतरा था। सिस्टर ने वह संतरा टेबुल पर रखा और बच्चे से पूछा, “ये क्या है, अभिषेक?”

बच्चे ने एक पल इस चीज को गौर से देखा। बच्चे का पिता फिर उतावला हो उठा, “बतलाओ बाबू, यह क्या है?”

बच्चे ने सूखे गले से कहा, “संतरा!” उसकी आंखें बतला रही थीं कि संतरे को देखकर उसके पेट की भूख और कंठ की प्यास, दोनों ही उमग पड़े हैं। मां ने बिना चूके बच्चे की आंखों की भाषा पढ़ी। उसका मन मोह और ग्लानि से भर उठा। वाकई, साढ़े तीन साल के बच्चे के लिए लगातार पांच घंटे तक बिना कुछ खाए खेलना, और सिर्फ खेलना कितनी बड़ी सजा हो सकती है—नेहा ने कातर होकर सोचा। दीवार पर लगी घड़ी का कांटा तीन के अंक को पार कर चुका था और नेहा का पेट भी सुबह के नाश्ते को पचाकर दोपहर के भोजन की जोरदार मांग कर रहा था।

सिस्टर ने पूछा, “संतरे का रंग कैसा है?”

बच्चे ने संतरे को गौर से देखा। वाकई उस जैसे छोटे बच्चे के लिए संतरे के रंग को समझ पाना मुश्किल काम था। यह रंग न तो लाल ही दिख रहा था, न पीला ही। बच्चा असमंजस में था।

इस स्थिति में मां ने बलपूर्वक अपने आप को संयमित रखा, पर पिता संयम खो बैठा। झुंझलाए स्वर में उसने बच्चे से कहा, “ऑरेंज कैसा होता है, नहीं जानते?”

बच्चा इतना परेशान था कि रो भी नहीं पा रहा था। तनिक सोचकर उसने उत्तर दिया,

“गोल।”

नेहा के भीतर तेज झुंझलाहट उभरी, पता नहीं, किसके प्रति ज्यादा, बच्चे के पिता के प्रति—जो बच्चे को प्रश्नों के जाल में उलझा रहा था, सिस्टर के प्रति—जो बच्चे से एक कठिन प्रश्न पूछ बैठी थी, या, बच्चे के प्रति—जो परिस्थिति के बीच अपने आप को समायोजित नहीं कर पा रहा था। फिर भी नेहा ने अपने भीतर की झुंझलाहट दबाई और बच्चे की सहायता की गरज से कहा, “संतरे का रंग बतलाओ, बाबू।”

बच्चा एक क्षण चुप रहा, फिर बोला, “लाल।”

“इट्स ओ.के।” सिस्टर मुस्कुलाई। फिर, दिलीप और नेहा की ओर देखकर बोली, “इसे बगल के कमरे में टेस्ट के लिए ले जाइए।”

उन्होंने सिस्टर को धन्यवाद दिया और कमरे से निकलकर पुनः गलियारों में आ गए। बगल वाला दरवाजा अब पूरी तरह बंद था। वह आयानुमा औरत चौकस बाहर रखे स्टूल पर बैठी थी। दिलीप उससे कुछ बोलता, उसके पहले ही उस औरत ने दिलीप से कहा, “सिस्टर अभी नहीं हैं, लंच-ब्रेक हुआ है, आप साढ़े तीन तक आइए।”

वे तीनों ग्रिल के पिछले दरवाजे से बरामदे के बाहर निकल आए थे। कंपाउंड की भीड़ अब अपेक्षाकृत कम हो गई थी, पर कतार में अब भी लोग खड़े थे।

नेहा ने ग्रिल के बाहर आते ही बुदबुदाना शुरू किया, “सब तो पूछ ही लिया, अब दूसरे कमरे में भीतर ले जाकर क्या पूछेंगे भला? ... कुछ ए, बी, सी वगैरह पूछना था तो वो भी यहीं पूछ लिया होता।”

“... पता नहीं, शायद पी-एच.डी. की थीसिस लिखवाना चाहते हों”, दिलीप ने कुढ़कर कहा। इन दिनों नेहा पी-एच.डी. की थीसिस लिख रही थी और दिलीप उस थीसिस में नेहा की व्यस्तता को लेकर भी इन दिनों थोड़ा परेशान था।

नेहा ने कटाक्ष को समझा, पर अपनी समझ को दरकिनार करते हुए कहा, “इन स्कूलों का यही बेमतलब ताम-झाम तो जान मारे रहता है।”

“फिर भी पब्लिक तो इन्हीं स्कूलों पर टूट पड़ती है,” दिलीप ने कहा।

“ये लोग ‘मेंटेन’ किए हुए हैं, पब्लिक भी क्या करे? सरकारी स्कूलों का तो भट्टा बैठा हुआ है,” नेहा ने कहा।

“तुम भी तो उसी बैठे हुए भट्टे में ही हो,” दिलीप ने इस स्वर में कहा जैसे उस ‘भट्टे’ को बैठाने की पूरी-की-पूरी जिम्मेदारी नेहा की ही हो।

नेहा चुप रह गई।

दिलीप ने फिर से नेहा को झिड़कने वाले अंदाज में कहा, “तुमने इसे संतरे का रंग नहीं सिखलाया था?”

नेहा ने नागिन की तरह फुंकारकर उतर दिया, “संतरे के रंग का ‘कसेप्ट’ क्या तुम्हारे दो-दूना-चार की तरह आसान होता है?”

अब दोनों परस्पर एक-दूसरे को खा जाने वाली मुद्रा में आ चुके थे, पर जगह की तंगी से इसका कोई ‘फेयर स्कोप’ नहीं बन पा रहा था।

दिलीप ने घड़ी पर नजर डाली—पूरे बीस मिनट थे उनके पास। पेट की भूख जोर मार रही थी और नेहा के तो पांवों की जकड़न भी। बच्चे का हाल सोचने की फुर्तत किसी को नहीं थी।

दोनों ने हिसाब लगाया कि नुक्कड़ वाले रेस्तरां में चलकर कुछ खा लेने जितना समय है उनके पास। बच्चे को भी खिला देना लाजिमी है, वरना भूख से रो पड़ा तो सारा गुड़ गोबर हो जाएगा।

पांच मिनट के भीतर दिलीप की कार रेस्तरां के सामने थी। इस छोटी अवधि में ही अभिषेक कार में बैठा-बैठा ऊंधने लगा था। नेहा बमुश्किल उसे जगाए हुए थी।

दिलीप ने कार का दरवाजा खोला, नेहा भी अपनी ओर का दरवाजा खोलकर उतरी, पर अभिषेक रो पड़ा, “मुझे नींद आ रही है, मैं नहीं जाता।”

दिलीप ने बच्चे को गोद में उठाना चाहा, पर नेहा ने रोक दिया, “गोद में लोगे, तो फौरन सो जाएगा। पैदल चलेगा, तो कम से कम जगा तो रहेगा।”

पर अभिषेक कार से बाहर आने को तैयार नहीं था। दिलीप ने अभिषेक की थोड़ी मनुहार की, थोड़ा झुंझलाया, थोड़ा डांटा, परंतु अभिषेक बाहर न आया, दिलीप ने घड़ी देखी। वक्त चाबुक लिए उनकी पीठ पर घोड़ा कसे हुए था। दिलीप ने बरजोरी से बच्चे को गोद में उठाया और रेस्तरां की ओर चल पड़ा।

बच्चे ने चैन की सांस ली। उसने अपना सिर पिता के कंधे से टिकाया। नींद उसकी खातिर गोद पसारे बैठी थी।

कुर्सी पर बैठते वक्त दिलीप और नेहा दोनों ने महसूस किया कि बच्चा वाकई गहरी नींद में है। नेहा को लगा कि वह लगभग रो पड़ेगी। उसने कातर स्वर में कहा, “मैंने कहा था न, कि इसे गोद में मत उठाओ। देखो तो! सो गया न! ... अब तो जगने से रहा। अब स्कूल में अंदर जाकर खाक न इंटरव्यू देगा।”

दिलीप ने दुखी स्वर में कहा, “अब यह



ज्यादती तो है ही कि इतने छोटे बच्चे को पांच घंटे तक इंतजार कराया, फिर मां-बाप से अलग करके इंटरव्यू भी लेंगे।”

“वाकई, साढ़े तीन-चार साल की उम्र स्कूल जाने की नहीं होती। परंतु पता नहीं ये इतने छोटे बच्चों को ही क्यों स्कूल में लेते हैं?” नेहा का स्वर भी गमगीन था।

दिलीप ने पास गुजरते बैयरे को हिदायत दी कि वह दो मिनट के अंदर दो प्लेट रसगुल्ले लाए, और नेहा की बात का जवाब थोड़े दार्शनिक अंदाज में दिया, “आदमी की जिंदगी में समाज की दखलंदाजी बढ़ रही है। उसी के लिए वह छोटी से छोटी उम्र में ही आदमी पर हावी होने की कोशिश करने लगता है।”

“परंतु हम, तुम भी तो इससे बचने की कोशिश नहीं करते। आखिर इतनी छोटी उम्र में बच्चे को स्कूल में डालने के लिए परेशान तो हैं न!” नेहा ने तर्क किया।

“क्या करें? बच्चे को समाज से काटकर रखेंगे? समाज चाहे जैसा हो, रहना तो उसके भीतर ही है।”

दिलीप ने क्षुब्ध स्वर में कहा।

टेबुल पर दो प्लेटों में दो-दो रसगुल्ले और दो ग्लास पानी आ चुके थे। दिलीप ने नेहा से कहा, “खाओ।” और खुद भी रसगुल्ले खाने लगा। अचानक, वक्त फिर काल की तरह उसके माथे पर सवार हो आया था।

नेहा ने चम्मच से रसगुल्ला काटने की कोशिश करते हुए कहा, “अभिषेक भी कुछ खा लेता तो अच्छा था। बेचारा बहुत भूखा होगा।”

दिलीप फिर खीझ गया, “अब इस वक्त वह उठकर रसगुल्ले खाएगा? बेकार की बातों में तुम्हारा जवाब नहीं।”

नेहा ने भी तीर-कमान संभाला, “मैं बेकार की बातें करती हूँ? क्या नींद में चलकर वह इंटरव्यू देने जाएगा?”

“खाओ-खाओ! समय नहीं बच रहा है”, विलीप ने युद्ध-विराम की घोषणा की।

नेहा ने घड़ी देखी। बस पांच मिनट! साढ़े तीन बजने में मात्र पांच मिनट शेष थे।

दिलीप कुर्सी से उठा। सोया हुआ अभिषेक उसके कंधे से लुढ़का जा रहा था। दिलीप ने उसे संभाला, और रेस्तरां के बाहर हो गया।

नेहा के भीतर खीझ भरी हुई थी। उसने पर्स

उठाया, रेस्तरां के दरवाजे के पास बने काउंटर पर बीस का नोट दिया और छुट्टे पैसे वापस लिए बिना रेस्तरां से बाहर हो गई। उसके भीतर का असंतोष जैसे फट पड़ना चाह रहा था। आखिर उसका भूखा बच्चा सोया पड़ा था।

नेहा कार के अंदर आई तो दिलीप ने सोए बच्चे को उसकी गोद में डाल दिया। नेहा ने कहा, “इसके लिए भी कुछ ले लो। नींद से जगेगा तो भूख के मारे रोने लगेगा।”

दिलीप ने घड़ी की सुइयों पर दृष्टि डाली और कहा, “ओह! वक्त नहीं है यार! ये मिशनरीज वक्त के बड़े पाबंद होते हैं।”

“पाबंद होते हैं तो दूसरों का पांच-पांच घंटों का वक्त क्यों बर्बाद करते हैं?” नेहा तिलमिलाई।

“जाकर सिर फोड़ो उनका। मुझसे क्यों पूछती हो?” दिलीप उबल पड़ा। फिर भी, उसने बगल के फुटपाथ पर के केले वाले से आधे दर्जन केले बच्चे के लिए ले लिए।

साढ़े तीन से भी अधिक का वक्त हो चुका था। ग्रील के भीतर, वे आफिस के सामने पहुंचे। उस वक्त वही आयानुमा चौकस स्टूल पर बैठी थी। सामने का दरवाजा अधखुला था। जाहिर था, अंदर ‘इंटरव्यू’ चल रहे थे। दिलीप ने बच्चे का प्रवेश-पत्र इस औरत को थमाया। उसने प्रवेश-पत्र लेकर दिलीप को झिड़का, “इतनी देर से कहां थे? दस मिनट से सिस्टर आपका इंतजार कर रही है।”

दिलीप के अहं को गहरा धक्का लगा, पर चुप रह गया।

इस बीच नेहा लगातार अभिषेक को जगाने की चेष्टा कर रही थी। वह नींद में ही आंखें खोल-मूंद रहा था। अंततः उसकी नींद खुली और वह बुरी तरह झुंझलाया। उसकी नींद पूरी तरह खुल जाए, इस गरज से नेहा ने उसे जमीन पर खड़ा करना चाहा। बस, कयामत आ गई।

बच्चा बुक्का फाड़कर रो पड़ा। एक तेज आवाज गलियारे-आफिस से लेकर स्कूल के पूरे ब्लाक में गूंजती चली गई। नेहा अभिषेक को चुप कराने में लगी थी और अभिषेक चुप होने का नाम ही नहीं ले रहा था। दिलीप हतप्रभ खड़ा था। आया ने बेचारगी से दिलीप से कहा, “बच्चे को चुप कराओ न बाबा! सिस्टर आकर डाटेगा।”

दिलीप भी नेहा के साथ कोशिश में शामिल हो गया। परंतु बच्चे को सिस्टर से क्या लेना-देना? भूख उसकी अंतड़ियों को छील रही थी और नींद उसकी आंखों में मिचिं झोंके जा रही थी। उस समय

पिता उसे यमदूत और मां डायन लग रही थी। अभिषेक का पूरा वजूद इस समय पूरी दुनिया को नकार देना चाह रहा था। उस वक्त उसे स्कूल नहीं, बस, एक बोतल दूध और गहरी नींद की जरूरत थी।

बच्चे की चीखें लगातार बढ़ रही थीं। दिलीप ने उसे डपटना चाहा। नेहा का भी जी चाह रहा था कि बच्चे को एक जोरदार चांटा जड़ दे। तभी सिस्टर अपने कमरे से बाहर आ गई। “प्लीज! आप बच्चे को बाहर ले जाइए”, सिस्टर ने कहा।

“सिस्टर! इसने इंटरव्यू नहीं दिया।” दिलीप ने स्थिति अपने पक्ष में करने की कोशिश की।

“ओ.के., बट, यह रो रहा है। आप इसे बाहर ले जाइए, प्लीज! दूसरे बच्चों पर भी इसका बुरा असर होगा। आप तेरह को आकर सेलेक्शन लिस्ट देख लें।” सिस्टर ने निर्णय सुनाया और अपने कमरे में फिर घुस गई।

बच्चा निरंतर रो रहा था। दिलीप और नेहा असमंजस में थे। आया ने जरा तेज आवाज में फिर कहा, “तुम बच्चे को यहां से हटाता क्यों नहीं बाबा? सिस्टर ने कह दिया तो बात मान लो।”

बच्चा अब भी चीखे जा रहा था। दिलीप ने बच्चे को गोद में उठाया। बच्चा उसे बेतरह भारी लग रहा था। पिता के कंधे से सटकर बच्चे ने चीखना बंद तो किया, पर उसकी हिचकियां बंध चुकी थीं।

वे थक कदमों से स्कूल से बाहर आए। अब बच्चा कंधे पर बिल्कुल शांत पड़ा था, जैसे वह बच्चा नहीं, बच्चे की लाश हो। दिलीप के पांव मनो भारी हो रहे थे, नेहा के संताप का अंत नहीं था।

उनके दुख और बेचारगी के निशाने पर इस बार पूरी दुनिया, ईश्वर, विशेषतः यह सिस्टर और स्कूल थे।

गीदड़

बंगले के पिछवाड़े दाएं कोने में एक पुराना पोखर था—छोटा। जब रामऔतार बाबू इस बंगले में आए तो उन्होंने इस पुराने पोखर का कायाकल्प करा दिया। शौकीन तबीयत, सौंदर्य-बोध, सरकारी पद और सामाजिक प्रतिष्ठा के स्वामी थे, अतः इसमें कोई अड़चन भी आड़े नहीं आई। पोखर की सफाई हुई, घाटों को पक्का कराया गया, उसमें थोड़ी मछलियां डलवाई गईं, और कमल की लताएं भी। धीरे-धीरे बंगले के पिछवाड़े, उस तालाब के आसपास एक अच्छा बगीचा और दिल बहलाने

लायक सुंदर माहौल बन गया, जहां शिकार के शौक और फूलों के सौंदर्य-बोध की तृप्ति एक साथ संभव थी।

चैत माह की रात थी। दसेक बजे का समय। रामऔतार बाबू, अर्थात्, रेंज के डी.आई.जी., तालाब के किनारे आरामकुर्सी पर झूल रहे थे। पुलिस की नौकरी भी, सारे कचकच्च के बावजूद, मजे की चीज होती है। नौकरी का जो मजा वर्दी पहनने पर मिलता है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। फिर भी, यह वर्दी है बड़ी बदजात चीज। वर्दी न हुई, 'चोला' हो गई। वर्दी पहनने-उतारने के साथ ही 'चोला' बदलता है। वर्दी पहनने के साथ ही दुनिया बदल जाती है। पूरा दिन गाली-गलौज और आंख तरेरा-तरेरी में बीत जाता है। शायद ही कभी किसी दोस्तनुमा आदमी से मुलाकात होती है, वरना पूरे दिन अपराधी और मातहत का चौकस घेरा, चौतरफा कड़क तैयार रहता है। इस वर्दी को अपने भीतर के इंसान के ऊपर चौतरफा कछुए के खोल की तरह चढ़ाए रखना पड़ता है। यह वर्दी अक्सर रामऔतार बाबू को 'भूआ-पिल्लू' की रोएंदार खाल की तरह दिखती है, जिसे छूते हर कोई डरता है। पूरा दिन रामऔतार बाबू इन खतरनाक 'भूआ-पिल्लुओं' के रोओं के बीच गुजरते हैं। चूंकि खुद की वर्दी के रोएं ज्यादा घने और खतरनाक हैं, अतः उस वर्दी में खुद को महफूज महसूस करते हैं रामऔतार बाबू, वरना, जिस क्षण उनके भीतर का प्राणी अपने ऊपरी रोओं के सुरक्षा-कवच को भूलता है, एक गंहरा भय और बेचैनी उनकी अंतरात्मा तक को मथ डालती है। ... नैनं छिंदति शस्त्राणि, नैनं दहति पावकः ... वही अकर्ता-अभोक्ता आत्मा किन-किन पिस्तुओं-पिल्लुओं तक के डर से छुपने के लिए कौन-कौन से आश्रय नहीं ढूंढने लगती है! ... जिसके बीच पूरा दिन गुजारते हैं रामऔतार बाबू ... ये अपराधी ... ये मातहत ...! और मातहत भी कैसे? वर्दी के भीतर छुपे चोरों के मौसेरे भाई जैसे ... सिर्फ 'चोरों' के? ... उफ! ... ऊपर से यह आतंकवाद ग्रसित 'रेंज'। कभी किसी भीतरी क्षेत्र से नाक-कान काटने की खबर आती है, कभी किसी सामूहिक नरसंहार की। जन-अदालतों ने अलग नाक में दम कर रखा है। लगता है जैसे आतंकवादियों की समानांतर व्यवस्था चल रही हो।

कुछ तो इन वर्दीधारियों के रोओं की वजह से और कुछ उन बूटों के आतंक के

कारण रामऔतार बाबू अपना परिवार पटना में ही रखते हैं। कहने को, एक वजह और है—बच्ची की पढ़ाई।

परंतु, जो भी हो, सूरज उगने से लेकर, सूरज ढलने तक तो रामऔतार बाबू का समय आसानी से कट जाता है, पर धरती पर उतरने के साथ-साथ अंधकार रामऔतार बाबू पर भी उतरने लगता है। जैसे-जैसे यह जमीन पर गहराता है, वैसे-वैसे रामऔतार बाबू पर भी। गोया रामऔतार बाबू संपूर्ण पृथ्वी के प्रतीक रूप हों। सूरज-चांद की गति के अनुरूप रामऔतार बाबू का चेहरा, उनकी पूरी पहचान, दिन-रात खांचे में बंधकर बदलती रहती है। विज्ञान कहता है कि दिन-रात पृथ्वी की गति के कारण आते-जाते हैं, परंतु रामऔतार बाबू जानते हैं कि पृथ्वी की गति, और समस्त प्रकृति, दिन और रात के द्वारा संचालित होती है। ... जो भी हो, रामऔतार बाबू यह भी जानते हैं कि तथाकथित ज्ञान-विज्ञान की इन 'उलटबांसियों'



को रटकर ही वे भारतीय आरक्षी सेवा में आ सके हैं और इन उलटबांसियों को बजाकर ही आज सफल पुलिस अधिकारी हैं।

ढलती हुई शाम और गहराती रात रामऔतार बाबू को इस बंगले में दुखदायी लगती है। दफ्तर से लौटने के बाद समय भूत की तरह भयावह लगने लगता है। कभी थककर आंख मूंदते हैं तो चौकीदार की रस्सी से झूलती निर्जीव देह चेतना पर घंटाघर के पेंडुलम की तरह 'टक्क ... टक्क' की आवाज के साथ चोट करने लगती है। कभी आतंकवादियों द्वारा जिंदा जला दिए गए पुलिस अफसरों की काली-कुंद हो गई देह की चिरायंध दुर्गंध जीभ के स्वाद तक में घुलने लगती है। उस वक्त सूखे गले को तर करने के लिए जो थूक रामऔतार बाबू घोंटते हैं, लगता है जैसे उस थूक में भी जिंदा इंसानी मांस का जला हुआ टुकड़ा सना हो। उस वक्त रामऔतार बाबू किसी भी कीमत पर भूआ-पिल्लू की चमड़ी-सी यह धिनौनी वर्दी और यह भयावह माहौल भूल जाना चाहते हैं, किसी भी कीमत पर! आखिर पुलिस अफसर भी एक इंसान होता है। सुख, दुख, भय, घृणा, क्रोध, संताप—सब उसे भी तो व्यापते हैं। उसे भी तो इन तनावों से राहत की जरूरत होती है।

रामऔतार बाबू के लिए इसी राहत का नाम है—देवेंद्र-देवेंद्र बाबू! देवेंद्र बाबू न तो पुलिस के आदमी हैं, न प्रशासन के। अपराधी भी नहीं हैं देवेंद्र बाबू। सच पूछा जाए तो इन तमाम चीजों से उनका दूर-दूर तक कोई रिश्ता नजर नहीं आता। पेशे से वह प्रोफेसर हैं। आमतौर पर पढ़ा-लिखा, समझदार-शरीफ आदमी जैसा होता है, वैसे ही हैं देवेंद्र बाबू। सहृदय व्यक्ति हैं, संगीत-कला-साहित्य में थोड़ी दखलंदाजी रखते हैं। संवेदनशील हैं, तो कविताएं भी लिखते हैं। बुद्धिजीवी हैं, अतः किताबें भी पढ़ते हैं। रामऔतार बाबू से देवेंद्र बाबू की दोस्ती का राज यही है कि देवेंद्र बाबू खरे शरीफ व्यक्ति हैं, पुलिस-प्रशासन-राजनीति जैसी चीजों से उनका कुछ भी लेना-देना नहीं है। इतने दिनों की दोस्ती में देवेंद्र बाबू ने आज तक रामऔतार बाबू की पद-प्रतिष्ठा का प्रयोग अपने हित में कभी नहीं किया है। कभी पुलिस के डी.आई.जी. से किसी की कोई पैरवी भी नहीं की। इस हेतु पड़ने वाले अपने सामाजिक दबावों से देवेंद्र बाबू कैसे निबटते हैं—यह उनका अपना मसला है। इस मसले को सुलटाने में आज तक उन्होंने कभी रामऔतार बाबू की मदद

नहीं मांगी। रामऔतार बाबू और देवेंद्र बाबू की आपसी बातें बड़े गुलाम अली खां, मेंहदी हसन, कामायनी, प्लेटो, कांट, सचिन तेंदुलकर जैसे विषयों के इर्द-गिर्द घूमा करती हैं। कभी-कभार दोनों दोस्त फूलों के बीच बैठकर मछली मारने का मजा भी लूटते हैं। अगर कभी उनकी बातों का विषय व्यक्तिगत होता है तो उन बातों के केंद्र नेहा - दिलीप-उनके बच्चे या डौली हुआ करते हैं। डौली, अर्थात् रामऔतार बाबू की इकलौती पुत्री, जो अपनी मां के साथ पटना में रहकर इस साल दसवीं बोर्ड की परीक्षा दे रही है। दिलीप देवेंद्र बाबू का छोटा भाई है, नेहा उसकी पत्नी। दिलीप, नेहा और उनके तीन बच्चे देवेंद्र बाबू को प्राणों से अधिक प्रिय हैं। इनके अतिरिक्त देवेंद्र बाबू का अपना कोई परिवार नहीं। देवेंद्र बाबू का विवाह तो हुआ ही था, पर दो साल के भीतर, पहली जचगी के दौरान ही देवेंद्र बाबू की पत्नी भगवान को प्यारी हो गई। तब से देवेंद्र बाबू वीतरागी हो गए हैं।

रात नौ बजने जा रहे थे, और देवेंद्र बाबू का पता न था। रामऔतार बाबू तालाब के किनारे आरामकुर्सी पर बैठे झूल जा रहे थे। जैसे-जैसे उनके भीतर की बेचैनी बढ़ रही थी, कुर्सी के झूलने की गति भी बढ़ रही थी। अब बेचैनी संभाले नहीं संभल रही थी, सो वह झूलने वाली कुर्सी से उठ कर लॉन-चेयर पर आ गए। किंतु क्या कुर्सी बदलने से चैन मिलता है? वह बेचैनी से कभी इस पहलू बैठते, कभी उस पहलू। शाम आठ बजे के बाद दस-प्यारह बजे तक का यह समय देवेंद्र बाबू के बगैर काटना रामऔतार बाबू के लिए फांसी के इंतजार की तरह भयावह होता है। आखिर दिन भर के तनाव से मुक्त होने के लिए रामऔतार बाबू के लिए इस शहर में ऐसा है ही क्या? एक देवेंद्र बाबू ही तो ऐसे हैं जिनकी संगत में रामऔतार बाबू कसाइयों के इस पेशे को थोड़ी देर के लिए भूल पाते हैं।

आज की शाम तो और भी कट नहीं पा रही है। आज पटना से पत्नी-बेटी से बातें भी नहीं हो पाईं। कल ही पत्नी ने फोन पर बतलाया था कि आज शाम एक परिचित के यहां लड़की की शादी में जाना है। इस वक्त 'मेम-साब' बारात की अगवानी में लगी होंगी। बेबी भी साथ में होगी। रात आठ बजे रामऔतार बाबू पटना फोन लगा कर डेरे पर के नौकर से इतनी जानकारी ले चुके हैं कि 'मेम-साब' शादी में जा चुकी हैं।

ऊपर से यह देवेंद्र! पता नहीं आज कहां गुम है यह भोला प्रोफेसर! बेयरा कम से कम दो बार आकर पूछ गया है, "हुजूर! मछलियां 'फ्राई' करूं?" हर बार रामऔतार बाबू ने मना कर दिया

है। बेचारा बेयरा भी समझता है कि बड़े साब प्रोफेसर साब का इंतजार कर रहे हैं। प्रोफेसर साब अर्थात् देवेंद्र बाबू, ज्यादा पीते नहीं, पर मछलियों के शौकीन हैं। पीते तो ज्यादा रामऔतार बाबू भी नहीं हैं, पर शाम के वक्त, जरा सुरूर अच्छा लगता है। वक्त काटने का एक सुंदर तरीका यह भी है उनके लिए।

अतत: दस बजने के थोड़ी देर पहले देवेंद्र बाबू बंगले के गेट पर दिखे। देवेंद्र बाबू को देखते ही रामऔतार बाबू के भीतर का आधा तनाव लंबी सांस की शक्ल में बाहर निकल आया। देवेंद्र बाबू के आते ही इस बंगले का, जिसे देवेंद्र बाबू भूत-बंगला की संज्ञा देते हैं, माहौल बदलने लगता है। सभी जानते हैं कि देवेंद्र बाबू के आने पर साहब 'अफसर' से इंसान बन जाते हैं। रामऔतार बाबू का कुत्ता तक जानता है कि देवेंद्र बाबू का आना इस बंगले में खुशियों का प्रवेशोत्सव होता है। इस कुत्ते के लिए भी देवेंद्र बाबू के आने का अर्थ मछलियों के टुकड़ों या मुर्ग की हड्डियों जैसा कुछ होता है। देवेंद्र बाबू के आने के साथ ही दूसरे दिन सुबह तक के लिए बंगले के सभी नौकरों - मातहतों तक को साब की गाली-गलौज और आंखों की लपटों से छुट्टी मिल जाती है। सो, इस बंगले में देवेंद्र बाबू का स्वागत बड़ी गर्मजोशी से सर्वत्र-सदैव होता है।

देवेंद्र बाबू के निकट आते ही सा'ब ने बड़ी बेसब्री से पूछा, "कहां थे भई? बड़ी देर कर दी!" उनके लहजे में बौखलाहट और अपनापन दोनों ही थे।

"कुछ नहीं! बस, डिस्टर्ब था!" देवेंद्र बाबू ने कुर्सी खींचकर बैठते हुए कहा। उनका स्वर खासा बुझा हुआ था।

"क्यों डिस्टर्ब थे? किसी इश्क-विश्क में पड़ गए हो क्या?" रामऔतार बाबू ने मीठा मजाक किया। यह मजाक बतला रहा था कि रामऔतार बाबू अपनी अफसरी के कछुआ-खोल से बाहर आ रहे हैं।

"... अरे भई! अब क्या इश्क करूंगा!" देवेंद्र बाबू ने लंबी उसांस छोड़ी। उनकी बेचारगी जैसे इस पुरगर्म मजाक का कोई असर ही नहीं लेना चाह रही थी।

"चलो! गर्म मछली मंगाता है हूं। इत्मिनान से स्वाद ले-लेकर उसके साथ इश्क फरमाओ, और मुंह से फूटो कि इन लैला-छाप आहों के पीछे का रहस्य क्या है?"

तब भी देवेंद्र बाबू चुपची ही बने रहे। अब रामऔतार बाबू तनिक झुंझलाए, "हद है यार! अरे कुछ तो बोलो कि मामला क्या है? ये चेहरे पर बारह क्यों बज रहे हैं? क्या पं. रविशंकर के सितार का कोई तार टूट गया है? या, तुम्हारा सचिन तेंदुलकर निन्यानबे के स्कोर पर आउट हो गया? ... गजब किए हुए हो। कुछ तो कहोगे।"

बड़ी मशक्कत के बाद देवेंद्र बाबू फूटे कि दिलीप के नन्हे बच्चे को एंजिल स्कूल में दाखिला नहीं मिला। एंजिल स्कूल इस छोटे शहर का एकमात्र काचेंट स्कूल है। देवेंद्र बाबू की बातों का कुल लब्बोलुबाब यही था कि कुल साठ सीटों के लिए सात सौ दरखास्त पड़ी थीं। बजाहिर अधिक लोगों को दाखिला नहीं मिला। जिन बच्चों को दाखिला नहीं मिला, उसमें दिलीप का बच्चा अभिषेक भी था।

देवेंद्र बाबू की पूरी भड़ास सुनकर रामऔतार बाबू मुस्कराए। तेजी से फूटती आ रही हंसी को भीतर ही भीतर दबाकर उन्होंने देवेंद्र बाबू से गंभीर स्वर में कहा, "हूं! मामला तो गंभीर है, किंतु अब करोगे क्या?"

"क्या करूंगा? वही तो सोच रहा हूं कि क्या करूं! यह तो एक 'क्राइसिस' हो गया है, भई! तुम घर का माहौल जाकर देखो आज! सबके चेहरे की हंसी और दिल का चैन गायब है। आज हमारे घर में ढंग का खाना नहीं पका है, कोई भी आदमी ढंग से खा नहीं सका है। समस्या यह है कि अब इस बच्चे का क्या करें? इसे कहां पढ़ाएं? शहर में कायदे का दूसरा कोई स्कूल नहीं है और इतने छोटे बच्चे को बाहर बोर्डिंग में डाल नहीं सकते। अगले साल इस बच्चे को कहीं किसी कायदे के स्कूल में दाखिला नहीं मिलेगा। क्योंकि तब इसकी उम्र नर्सरी के लिए ज्यादा होगी। बिना नर्सरी में पढ़े आगे की क्लास में भी दाखिला मिलेगा नहीं!"—देवेंद्र बाबू की चिंता का कहीं कोई अंत नहीं था।

रामऔतार बाबू को लग रहा था कि वह अब ठठाकर हंस पड़ेंगे। उन्होंने देवेंद्र बाबू को छेड़ने वाले अंदाज में कहा, "अरे स्कूल में दाखिला नहीं मिलता है तो न मिले! स्कूल में पढ़ना इतना जरूरी क्यों है? घर में मास्टर रखकर पढ़ा लो। बोलो, रवींद्रनाथ टैगोर किस स्कूल में पढ़े थे?"

देवेंद्र बाबू भक्क से सुलग उठे, "तो क्या सभी रवींद्रनाथ टैगोर हो जाएंगे? तुम क्यों डॉली को पटने में रखकर पढ़ा रहे हो? ... और मैं तो इस लाइन का आदमी हूं, ठीक-ठीक जानता हूं कि आज बच्चे की तकदीर उसके स्कूल लिख रहे हैं। ... और यह भी समझ लो कि आज यदि रवींद्रनाथ

टैगोर पैदा हुए होते तो वह भी स्कूल में ही पढ़ते। यदि न पढ़ते तो आज दूढ़े भी उनकी कहीं कोई हस्ती न मिल रही होती।”

अब तक एक-एक पेग दोनों के गले के नीचे उतर चुका था। एक क्षण रामऔतार बाबू ने अंधेरे का फायदा उठाकर गौर से देवेन्द्र बाबू को देखा—यह आदमी सच में क्या उतना ही भोला है, जितना दिखता है? पुलिस के एक आला अफसर के सामने बैठकर इस अदना-सी बात का इतना रोना क्यों रोए जा रहा है? क्या चाहता है यह आदमी? स्कूल में पैरवी? ... जो भी हो, आदमी स्वाभिमान का धनी है। दूसरा कोई होता तो अब तक खुलकर पैरवी की बात कह चुका होता। इस आदमी ने आज तक कभी रामऔतार बाबू के सामने किसी चीज के लिए मुंह नहीं खोला, किसी की पैरवी नहीं की। रामऔतार बाबू देवेन्द्र बाबू के इस स्वाभिमान की कद्र करते हैं। यह भी चाहते हैं कि यह स्वाभिमान कभी चोट नहीं खाए, कभी दूटे नहीं।

क्या यह उचित नहीं है कि यह आदमी अपने इस स्वाभिमान को ताक पर रख दे, इससे पहले ही इसकी समस्या का समाधान निकाल लिया जाए? रामऔतार बाबू सोच रहे थे। अंततः उन्होंने तय किया कि दोस्ती का तकाजा यही है कि दोस्त को दूटने से बचा लिया जाए।

रामऔतार बाबू ने व्हिस्की का ग्लास हाथ में उठाया और हल्के सुरूर में आंखें मूंदकर धीमी मुस्कान के साथ देवेन्द्र बाबू से कहा, “अगर मैं तुम्हारी समस्या का समाधान कर दूँ तो क्या कल तुम मुझे अपने घर में शाम का खाना खिलाओगे?”

“क्या मजाक कर रहे हो? मुझे अच्छा नहीं लग रहा है? आज चढ़ गई है क्या तुम्हें?” देवेन्द्र बाबू ने तनिक झुंझलाहट और बेचारगी से कहा।

“तुम्हें यह मजाक लग रहा है?” रामऔतार बाबू के लहजे में हंसी का पुट और गहरा हो चुका था।

“तो और क्या समझूँ इसे? सोचने वाली बात है कि क्या इतनी छोटी-सी बात के लिए उस अदना नन के सामने तुम मुंह खोलोगे?” देवेन्द्र बाबू वाकई हैरत में थे।

“छोटी बात? यह छोटी बात है? छोटी बात है तो इसे लेकर इतने परेशान क्यों हो तुम लोग? ... कल स्कूल जाओ। बच्चे को भी ले लो, और पैसे भी। दाखिला उसे मिल जाएगा, मैं सिस्टर से कह दूंगा।”

देवेन्द्र बाबू ने हैरत से रामऔतार बाबू को

देखा। रामऔतार बाबू ने जोर देकर कहा, “मैं कहता हूँ, कल बच्चे का नाम स्कूल में लिखा जाएगा! तुम कल स्कूल जाओ।”

दूसरी शाम देवेन्द्र बाबू बंगले पर समय से ही आ गए। देवेन्द्र बाबू के कुर्सी खींचकर बैठते ही रामऔतार बाबू ने लहककर पूछा, “हलो प्रोफेसर! आज तो मिजाज फर्स्ट क्लास टंच है न? करा आए न बच्चे का एडमिशन?”

प्रत्युत्तर में देवेन्द्र बाबू ने कुढ़कर कहा, “तुम क्या सारी बातों को इतना आसान समझते हो? तुम पुलिस वाले हर चीज को अपनी बपौती समझते हो, और इसी मुगालते में न जाने कितनी समस्याएं खड़ी किए चले जाते हो।”

देवेन्द्र बाबू का मिजाज भांपकर रामऔतार बाबू चौंक गए। कुर्सी पर तनकर सीधा बैठते हुए पूछा, “लेक्चर बाद में देना, पहले साफ-साफ बतलाओ, क्या हुआ?”

“क्या हुआ? अरे पूछो, क्या नहीं हुआ? तुमने तो कल अकड़कर कह दिया कि आज बच्चे को एडमिशन मिल जाएगा। तुम्हारी बातें मानकर मैंने आज नेहा-दिलीप-अभिषेक को स्कूल भेज भी दिया, और फिर सिस्टर ने वो-वो खरी-खोटी सुनाई इन बेचारों को कि पूछो मत। उसने सरासर इल्जाम लगाया कि हमने स्कूल में थाने से इन्स्पेक्टर भेज कर स्कूल को धमकियां दिलवाई हैं। ... उसने .. उस सिस्टर ने हमें गुंडा कहा। ... बतलाओ तो, हम गुंडे हैं? हमें क्या मतलब धौंसपट्टी से और क्या मतलब पुलिस से? हम तो शरीफ लोग ठहरे।” देवेन्द्र बाबू जैसे फट पड़ना चाह रहे थे।

“हां बच्चू! तू तो शरीफ है, और हम पुलिस वाले एक नंबर के बदमाश ठहरे”, रामऔतार बाबू ने व्यंग्य से कहा।

देवेन्द्र बाबू समझ गए, झोंक में गलत बात मुंह से निकल गई है। अपनी गलती सुधारते हुए उन्होंने कहा, “नहीं-नहीं! मैं वो नहीं कह रहा था। तुम मेरे दोस्त हो, तुम तो जानते ही हो, मैं धमकी और पैरवी में यकीन नहीं करता, पर वो-वो सिस्टर, पता नहीं, अपने आप को समझती क्या है, ... और पता नहीं, हम लोगों को उसने क्या समझ रखा है? ... वह तो एक प्रकार से हमें गालियां देने पर ही उतारू थी। उसने पूछ दिया कि बच्चे का पिता कौन है—दिलीप या वह इन्स्पेक्टर?”

“बड़ी बदजात औरत है! नन होकर गालियां देती है।” रामऔतार बाबू ने हंसकर कहा।

“अरे! इनकी बदतमीजी का क्या रोना?

अभिभावकों के साथ तो ये कुत्तों से भी बदतर सलूक करते हैं। ... वह बार-बार इस बात पर जोर दे रही थी कि दाखिले के लिए दिलीप को जाना चाहिए था न कि पुलिस इन्स्पेक्टर को। तुम बतलाओ, तुम्हारी वजह से हमें गालियां सुननी पड़ीं या नहीं? तुम्हें स्कूल में पुलिस भेजने की क्या पड़ी थी?” देवेन्द्र बाबू ने नाराजगी से कहा।

रामऔतार बाबू ने उन्हें सहज करना चाहा, “हे मेरे इश्वर! किस अहमक ने तुम्हें प्रोफेसर बना दिया? तुम इतनी मोटी बात क्यों नहीं समझ रहे कि हमारा तो खानसामा भी पुलिसमैन ही हुआ करता है और हरकारा भी पुलिसमैन ही। मैंने स्कूल में इन्स्पेक्टर को धमकियां देने थोड़े ही भेजा था, वह बेचारा तो सिर्फ कहने गया था कि बच्चे का स्कूल में नाम लिख लिया जाए। ... मुझे नहीं लगता, उसने स्कूल में जाकर धमकियां दी होंगी।”

“मुझे नहीं चाहिए एडमिशन, बाबा!” देवेन्द्र बाबू ने खीझकर हाथ जोड़ते हुए कहा, “तुम्हें तुम्हारी वर्दी और कुर्सी मुबारक! हम अदने लोग ठहरे, किसी तरह जिंदगी काट ही लेंगे। हमें हपने हाल पर छोड़ दो। ... यहां एक बच्चे को एडमिशन के लिए झूठ रहे थे, अब यहां हालात ये हैं कि दिलीप के जो दूसरे दो बच्चे उस स्कूल में पढ़ रहे हैं, उनकी पढ़ाई के भी लाले पड़ गए हैं।”

“लाले पड़ गए हैं? पर क्यों? क्या कर लेगा तुम्हारा स्कूल उन बच्चों का? ... अगर तुमने या मैंने स्कूल में पुलिस भिजवाई, या कोई गलत काम किया तो इसमें उन दो बच्चों का क्या कसूर है?” रामऔतार बाबू ने हैरत से पूछा।

“उन बच्चों को तुम बेकसूर सिद्ध करते रहना अपनी कचहरी में। उस स्कूल में तुम्हारा यह कानून नहीं चलता। वहां उनके अपने नियम और अपने तौर-तरीके हैं। वे अभिभावक से नाराज होते हैं तो बदला बच्चों से ले लेते हैं।”

“नहीं-नहीं! ऐसा नहीं होगा। तुम नाहक ही परेशान हो। कल मैं स्वयं अपने दफ्तर से स्कूल फोन करूंगा और उन्हें सारी बातें समझा दूंगा। तुम एकदम निश्चित रहो, उस बच्चे को भी एडमिशन मिलेगा, और दूसरे दोनों बच्चों को भी कुछ नहीं होगा।” रामऔतार बाबू ने देवेन्द्र बाबू को ठंडा करना चाहा।

“हे मेरे परमात्मा!” देवेन्द्र बाबू ने खीझ और झुंझलाहट से भरकर कहा, “अब दया करो हम पर! हमें अपने हाल पर छोड़ दो। ... और अपने आप को भी बहुत तीसमारखां मत समझो। ये नन्स हैं, नन्स! एक पूरा धार्मिक समुदाय इनके पीछे है। ये तुम्हारी पुलिसिया धौंस में आने वाली नहीं हैं।”

“मैं इन्हें धौंस देना भी नहीं चाहता। ... वैसे पुलिसिया धौंस में कौन नहीं आता? यह पुलिस तो बड़े-बड़े अपराधियों के छक्के छुड़ा देती है, फिर ये तो मामूली औरते हैं,” रामऔतार बाबू ने अकड़ कर कहा।

“हां-हां! देखा है तुम्हारा छक्के छुड़ाना! यहां बंगले में महफूज बैठे रहते हो, तब न इतनी हांक रहे हो, उधर सड़क पर डंडा लेकर चलने वाले मामूली सिपाहियों से उनका हाल पूछो। बेचारे दिन-रात अपनी जान की खैर मनाते हैं।”

“क्या खैर मनाते हैं? तुम्हें मालूम नहीं, ये ‘डंडा-ब्रांड’ सिपाही साले बड़े हरामी होते हैं। पैंट पहनने का शऊर नहीं है पर इसी डंडे के बूते पर यहां से वहां तक हफ्ता वसूलते घूमते हैं।” पुलिस के आला अफसर रामऔतार बाबू पुलिस के बारे में एक अनौपचारिक वक्तव्य दे रहे थे।

“वही तो मैं कह रहा हूँ कि तुम्हारी सारी धौंस सिर्फ कमजोर लोगों पर ही चलती है, बदमाशों से तो तुम्हारे कलेजे कांपते हैं। यहीं, तुम्हारे ही एरिया में, उग्रवादी आकर तुम्हारे थाने लूट लेते हैं, और तुम क्या कर पाते हो? बहुत बहादुरी दिखाई तो दो-चार निहत्थों को नकली मुठभेड़ में मार गिराते हो।” देवेंद्र बाबू ने बहस की।

“छोड़ो! बंद करो अपनी प्रोफेसरी! सारी नैतिकता का तो ठेका तुम प्रोफेसरों ने ही ले रखा है न! कालेज में तुम लोग जो गुल खिलाते हो, वो सारी दुनिया को मालूम है।”

“क्या? ... क्या गुल खिलाते हैं?” देवेंद्र बाबू पूरी तरह तैश में आ गए।

“हटाओ! मैं तुमसे बहस नहीं करता। उस बहस का कोई फायदा भी नहीं है। सीधी-सी बात है कि दिलीप के बच्चे को स्कूल में दाखिला चाहिए, वो ज़िल जाएगा। कल दिन में ग्यारह बजे मेरे आफिस आओ, फिर देखो, मैं क्या करता हूँ।” रामऔतार बाबू ने प्रकरण का पटाक्षेप-सा करते हुए कहा।

परंतु देवेंद्र बाबू खासे निराश दिख रहे थे। उन्होंने कहा, “नहीं यार! वह बात नहीं है। मैंने आज नेहा और दिलीप को भी डांटा है कि इतने छोटे बच्चे को स्कूल भेजने के लिए इतना उतावलापन क्यों मचा हुआ है? थोड़ा और बड़ा होगा तो देखा जाएगा।”

“वाह, यार वाह! तुम बुद्धिजीवियों का भी जवाब नहीं। कल यही बात मैंने कही तो मुझे लेक्चर पिला दिया और आज खुद यही कह रहे हो।”

“तो क्या करूं? क्या यह सच नहीं है कि हम ... हमारी सारी व्यवस्था, आज इंसान को रस का घोड़ा बना बैठी है। जो जितनी दूर तक और जितनी तेजी से समाज-परिवार की गाड़ी खींच सके वो उतना अच्छा और उतना बड़ा कहलाता है। उससे अधिक किसी व्यक्ति की इंसानियत की, उसके सद्गुणों की कोई कद्र हमारे पास बची है क्या? इसी अर्थ में आज की समाज-व्यवस्था इंसान को जानवर बनाने पर उतारू है ...”

देवेंद्र बाबू को बीच में ही टोककर रामऔतार बाबू हंस पड़े, “वैल डन माई पोएट - वैल डन! परंतु तुम्हारी कविताएं मुझे ‘बोर’ करती हैं। इन्हें बंद करो। दो टूक बात यही है कि फिलहाल तुम्हारी परेशानी बच्चे का दाखिला ही है। परंतु तुम इसकी चिंता नहीं करो। दाखिला उसे मिलेगा, हर कीमत पर मिलेगा। मैं कल खुद दफ्तर से स्कूल फोन करूंगा। तुम ग्यारह बजे दिन में मेरे दफ्तर आओ, विदआउट फेल।”

अगले दिन! दोपहर बारह बजे एंजिल स्कूल की प्रधानाचार्या सिस्टर शुभ्रा के टेबुल के फोन की घंटी बजी :

“हलो! एंजिल स्कूल!”

“मे आई टाक टू सिस्टर शुभ्रा प्लीज?”

“यस! आय एम हियर!”

“गुड मॉर्निंग सिस्टर! आय एम आर. एस. नीरज-डी.आई.जी. आफ दिस रेंज।”

“गुड मॉर्निंग सर! व्हाट कैन आय डू फार यू सर? प्लीज!”

“सिस्टर! एक छोटे से काम के लिए आपको तकलीफ दी। कर्जन रोड के मि. दिलीप शरण के दो बच्चे आपके स्कूल में पढ़ते हैं, तीसरे बच्चे को भी वे आपके स्कूल में डालना चाह रहे हैं। उन्होंने कोशिश भी की थी किंतु बच्चा दाखिले के लिए चुना नहीं जा सका। मैं उनको व्यक्तिगत रूप से जानता हूँ। अगर संभव हो तो, कृपया, उस मामले में कुछ करें।” डी.आई.जी. का स्वर बिल्कुल संयत, किंतु विनयपूर्ण था।

“आय एम सॉरी सर! मुझे बहुत दुख है कि मैं इस मामले में कुछ नहीं कर सकती। हमारे यहां एक ‘एडमिशन कमेटी’ है जो बच्चों को दाखिले के लिए चुनती है और दाखिले की सूची तैयार करती है। मैं भी मि. दिलीप शरण को पहचानती हूँ, और मुझे ठीक-ठीक याद है कि उनका बच्चा ‘इंटरव्यू’ के लिए अंदर गया ही नहीं, अतः कमेटी ने उसके नाम पर विचार भी नहीं किया। अब तो

लिस्ट निकल चुकी है। कोई जगह भी खाली नहीं बची है। प्लीज, आप ही बतलाइए कि इस मामले में मैं कैसे और क्या कर सकती हूँ?” सिस्टर ने हिंदी बोलने की अनभ्यस्त जुबान में सपाट लहजे में कहा।

डी.आई.जी. कार्यालय में बैठे देवेंद्र बाबू देख रहे थे कि रामऔतार बाबू का चेहरा तमतमा आया था। रामऔतार बाबू ने फोन पर फिर कहा, “देखिए! शायद कोई सूरत निकल आए!” अबके रामऔतार बाबू का स्वर तनिक कठोर था।

प्रत्युत्तर में सिस्टर का भी कठोर स्वर उभरा, “क्षमा करेंगे महानुभाव! स्कूल-प्रशासन हमारी समस्या है, पुलिस-प्रशासन आपकी। आप अपना काम देखें और हमें हमारा काम देखने दें।”

रामऔतार बाबू ने भड़ककर फोन पटक। उनका चेहरा क्रोध से काला पड़ गया था। उन्होंने टेबुल पर रखी काल-बेल दबाई। चिराग के जिन की तरह, घंटी पर हाथ रखते ही, अर्दली हाजिर हो गया। रामऔतार बाबू ने सनसनाती बावाज में कहा, “सिटी डी.एस.पी. को बुलाओ तुरंत।”

अर्दली साहब की बेचैनी भांपकर क्षणांश में कमरे से अंतर्धान हो गया। डी.आई.जी. इस प्रकार बेचैन दिख रहे थे जैसे जंगली बिच्छू का जहर चढ़ रहा हो। उन्होंने देवेंद्र बाबू से कहा, “देखो इस औरत को! कितनी बदजात है? मैंने उससे ‘प्लीज’ कहा, और वह मुझे इयूटी सिखलाने पर उतारू है। स्साली अपने आप को समझती क्या है? मैं उसे उसकी औकात बतला दूंगा। ... मैं उसे वो सबक सिखलाऊंगा कि आजीवन पुलिस का नाम सुनते ही उसे मिर्गी के दौर पड़ने लगेंगे। ... कहती है, ‘व्हाट कैन आय डू?’ ... मैं यह तो नहीं बतला सकता कि वह क्या कर सकती है, किंतु मैं क्या कर सकता हूँ, यह मैं उसे जरूर बतला दूंगा।” रामऔतार बाबू ने अत्यंत क्रोध से कहा।

नगर आरक्षी उप-अधीक्षक को बड़े सा’ब के सामने हाजिर होने में देर न लगी। अंदर आकर बड़े सा’ब को करारा सैल्यूट ठोंका। अब तक रामऔतार बाबू भी अपने आप पर कुछ काबू पा चुके थे। उन्होंने साहबी आवाज में उप-अधीक्षक महोदय से पूछा, “एंजिल स्कूल का मामला याद है?”

“यस सर!”

“उसे कौन देख रहा है?”

“अभी तो वो फाइल बंद पड़ी है, सर! वो हथियारों के लूट के मामले में ही हम उलझे हुए हैं।”

“ठीक है! ... लेकिन स्कूल वाला मामला भी भूल जाने लायक नहीं है। वह फाइल जिस हाल में भी है, मेरे सामने ‘पुट-अप’ कीजिए—तुरंत।”

“यह सर,” डी.एस.पी. ने कहा और सैल्यूट दागकर चैंबर से बाहर हो गए।

देवेंद्र बाबू ने चैंबर से उठना चाहा तो रामऔतार बाबू ने बैठा लिया, कहा, “तमाशा नहीं देखोगे?”

“तुम्हारे तमाशे में मुझे कोई रुचि नहीं है”, देवेंद्र बाबू ने कहा।

“फिर भी, देख लो! मुझे अच्छा लगेगा।” रामऔतार बाबू ने कहा।

“नहीं।” कहकर देवेंद्र बाबू बाहर निकल आए।

आधे घंटे के अंदर एंजिल स्कूल के गबन के मामले की फाइल हाथ में लिए डी.एस.पी. नागेश रामऔतार बाबू के सामने खड़े थे।

“ठीक है! इस फाइल की स्टडी कीजिए और सिस्टर शुभ्रा के खिलाफ चार्जशीट तैयार करें।”

डी.एस.पी. चौंके, “सर, केस में एफ.आई.आर. सिस्टर शुभ्रा ने ही कराई थी। मैं समझता

हूँ, इस मामले में वह निर्दोष है।”

“तुम खुदाई फौजदार बन गए हो?” रामऔतार बाबू दहाड़े, “कोर्ट ने अपनी सारी पॉवर तुम्हें दे दी है क्या? मैंने तुमसे कोई सलाह मांगी? क्या एफ.आई.आर. लॉज कराना किसी के निर्दोष होने का सबूत होता है? इतने दिनों से पुलिस की नौकरी कर रहे हो, क्या आज मुझे तुमको यह भी समझाना पड़ेगा कि बहुधा अपराधी अपना अपराध छुपाने के लिए दूसरों के खिलाफ स्वयं ही एफ.आई.आर. लॉज करा दिया करते हैं?”

डी.एस.पी. ने समझने में कोई भूल नहीं की। साहब को पुलिसिया सलाम ठोका और एड़ी के बल बाहर जाने के लिए घूम गए।

तभी रामऔतार बाबू ने दुबारा ठोका, “सुनो!”

डी.एस.पी. फिर एड़ी के बल लट्टू की तरह नाचकर रामऔतार बाबू के सामने हो गए।

रामऔतार बाबू ने कहा, “यह फाइल सिविल लाइंस थाने के इंचार्ज के हवाले करो। .. वहां का थाना इंचार्ज कौन है?”

“जी, एस.पी.एन. पांडेय।”

“नो! उसे ट्रांसफर करो। जहां जी चाहे, तुम

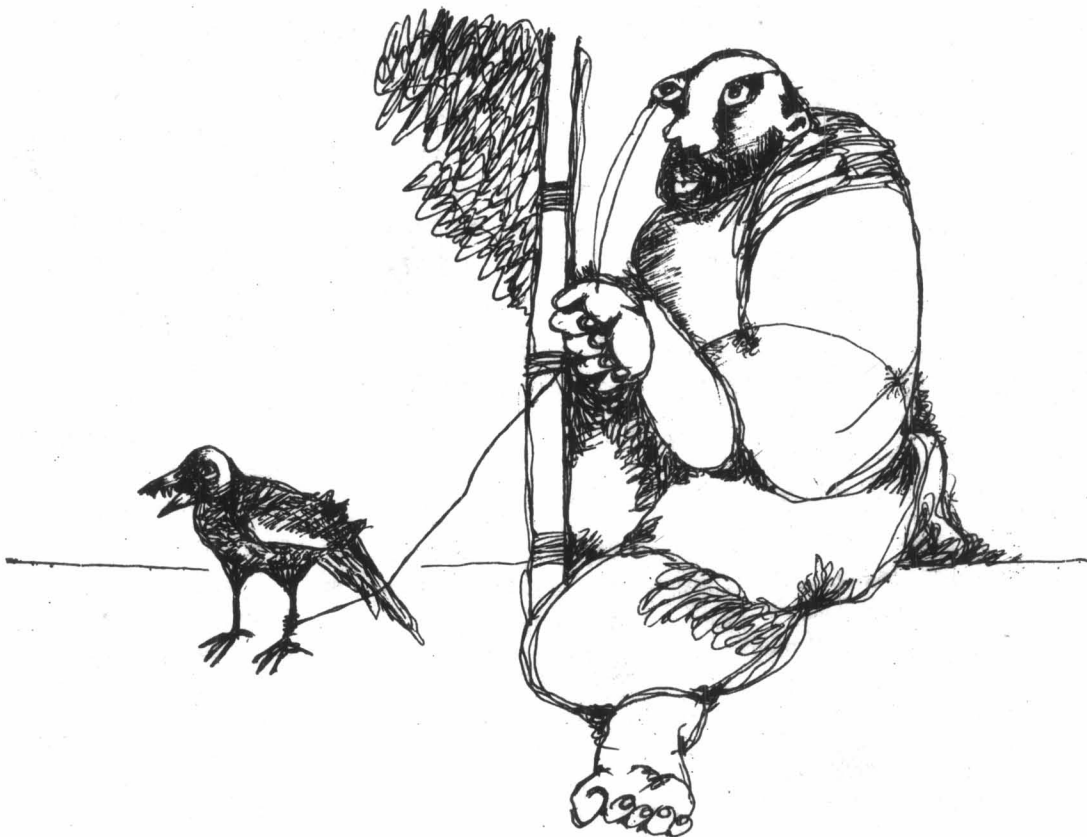
पांडेय को वहां भेजो, और इंस्पेक्टर अल्बर्ट को सिविल लाइंस थाने में ट्रांसफर कर दो। यह काम अभी ही होना चाहिए, आज ही, तुरंत। अल्बर्ट से कहो, तुरंत चार्ज ले, चार्ज लेने के साथ ही इस मामले में तहकीकात शुरू करो, और सिस्टर शुभ्रा के खिलाफ चार्जशीट तैयार करो, दो दिन के अंदर।”

“सर!” डी.एस.पी. ने फिर टोकने की जुर्रत की, “इंस्पेक्टर अल्बर्ट तो मेडिकल लीव पर है। पिछले दिनों धनबिगहा मुठभेड़ में उसे गोली लगी थी।”

लगा कि बड़े सा’ब चीते की भांति कूदकर डी.एस.पी. पर चढ़ दौड़ेंगे और उसे फाड़ खाएंगे। लगभग गुरांते हुए उन्होंने कहा, “डैम योर छुट्टी! अल्बर्ट जिंदा तो है न? मर तो नहीं गया? कहां गोली लगी है उसे?”

“जी, बांह में!”

“तो, बांह की चोट की वजह से वह थाने की कुर्सी पर बैठने में भी लाचार है? ... उसकी छुट्टी कैंसिल करो या जो तुम्हारे जी में आए करो, परंतु मैं आज और आज ही अल्बर्ट को सिविल लाइंस थाने का चार्ज लेते हुए देखना चाहता हूँ। ... वन थिंग मोर, एंजिल स्कूल वाले मामले की फाइल भी आज ही खुल जानी चाहिए।”



डी.एस.पी. ने इस आज्ञा को 'अनंत फल' की तरह माथे से लगाया और आगे की कार्रवाई में लग गए।

बाई बांह पर पट्टी बांधे इंस्पेक्टर अल्बर्ट, थाना इंचार्ज सिविल लाइंस थाना, ने एंजिल स्कूल की फाइल खोली। पच्चीस लाख रुपये की गड़बड़ी का मामला था। सिस्टर शुभ्रा, निदेशक सह प्रधानाचार्य, एंजिल स्कूल ने प्राथमिकी दर्ज कराई थी कि स्कूल के लेखापाल, वकील और एक ठेकेदार ने मिलकर स्कूल को पच्चीस लाख रुपये को चूना लगाया था। इसी से लगी एक दूसरी प्राथमिकी भी दर्ज थी, जिसे शहर के इसी ठेकेदार तथा स्कूल के लेखापाल ने दर्ज कराया था, जिसमें सिस्टर शुभ्रा को अभियुक्त बनाते हुए पच्चीस लाख की धोखाधड़ी की रिपोर्ट की गई। साथ ही सिस्टर शुभ्रा पर दुर्व्यवहार, मानहानि आदि के भी आरोप लगाए गए थे। इन सभी प्राथमिकियों के ऊपर चौंकाने वाली बात जांच प्रतिवेदन पर दी गई यह आधिकारिक टिप्पणी थी कि इस मामले में प्रथमदृष्टया सिस्टर शुभ्रा, निदेशक सह प्रधानाचार्य, एंजिल स्कूल दोषी दिख रही हैं। आगे की जांच इंस्पेक्टर अल्बर्ट के हवाले थी। इस विषय में नगर आरक्षी उप-अधीक्षक ने इंस्पेक्टर अल्बर्ट को इस थाने का चार्ज लेने के साथ ही बुलाकर चेताया था कि जांच अविलंब प्रारंभ होनी चाहिए तथा दो दिनों के अंदर सिस्टर शुभ्रा के खिलाफ चार्जशीट भी तैयार हो जानी चाहिए। इंस्पेक्टर पर यह बात बिल्कुल खुली हुई थी कि किसी वजह से उप-अधीक्षक सिस्टर शुभ्रा की गिरफ्तारी चाह रहा है।

... लेकिन क्यों? सिस्टर की गिरफ्तारी का उद्देश्य? इस तरह चिकित्सकीय अवकाश रह कर उसे सिविल लाइंस थाने में थाना-प्रभारी नियुक्त करने की चाल तो अब अल्बर्ट साफ-साफ समझ पा रहा था। यह बात भी अब उससे छुपी नहीं थी कि सिस्टर की गिरफ्तारी की सारी तैयारियां पूरी हो चुकी हैं, और शतरंज के इस खेल का अंतिम मोहरा उसे बनाया गया है।

हे ईश्वर! इतनी बड़ी चाल! कैसे उबरे इससे! इंस्पेक्टर अल्बर्ट कैसे गिरफ्तार कर पाएगा सिस्टर शुभ्रा को? इसी सिस्टर शुभ्रा का विद्यार्थी रह चुका है वह। ठीक-ठीक समझ पा रहा है अल्बर्ट कि इस मामले में चक्की उल्टी घूमी है। फिर, किस मुंह से वह सिस्टर के सामने जाकर उनकी गिरफ्तारी का वारंट प्रस्तुत कर पाएगा?

किंकर्तव्यविमूढ़ अल्बर्ट के सामने दूसरा रास्ता नहीं था, सिवा इसके कि सिस्टर को विश्वास

में लेकर आगे की कार्रवाई करे। वैसे भी तहकीकात के सिलसिले में तो सिस्टर से मिलना लाजिमी ही था।

अल्बर्ट ने फाइल अलमारी में बंद की, ताला जड़ा, और तसल्ली की कि ताला ठीक से जड़ा हुआ है। यह फाइल जितनी पोशीदा रहे, जितने कम लोगों के हाथ में पड़े, उतना ही अच्छा। एक आस अल्बर्ट के मन में अब भी थी—बड़े सा'ब। उसे पूरा यकीन था कि बड़े सा'ब से खुलकर सारी बातें की जाएंगी तो वह जरूर कोई रास्ता निकालेंगे। वैसे भी, सिस्टर की गिरफ्तारी कोई हंसी-खेल तो थी नहीं।

थाने से निकलकर इंस्पेक्टर अल्बर्ट ने जीप निकलवाई और सीधे स्कूल जा पहुंचा। स्कूल पहुंच कर पता चला सिस्टर स्कूल में नहीं हैं, किसी काम से कहीं बाहर गई हैं।

अल्बर्ट की बेचैनी थम नहीं रही थी। परंतु किया भी क्या जा सकता था? अल्बर्ट ने सोचा वह शाम चार बजे तक आकर सिस्टर से मिलेगा। मिलना तो पड़ेगा ही। कल तक का समय है। कल फाइल पर रिपोर्ट दे देनी है, अतः आज ही सिस्टर से मिलना होगा, किसी भी हाल में।

अल्बर्ट थाने लौट गया, जैसे बैरंग चिट्ठी बिना खोले वापस लौटा दी गई हो।

चार बजने में अभी एक घंटे से ज्यादा का वक्त बाकी था कि थाने में फोन आया, "बड़े सा'ब ने बुलाया है।"

बड़े सा'ब की बुलाहट यानी मौत का परवाना। एक क्षण भी रुकने की कोई गुंजाइश नहीं। अल्बर्ट आनन-फानन डी.आई.जी.के कार्यालय पहुंचा। चैंबर में चिट भेजी। सा'ब ने तुरंत बुला लिया।

अल्बर्ट ने चैंबर में प्रवेश कर जैसे ही सैल्यूट किया, बड़े सा'ब ने पूछा, "तहकीकात शुरू की?"

"यस, सर!"

"कहां तक बढ़े?"

"स्कूल गया था, सर! सिस्टर शुभ्रा उस वक्त कहीं बाहर गई थीं, इसलिए कोई बात नहीं हो सकी। अब फिर जाऊंगा।"

"इडियट!" बड़े सा'ब जैसे आप खो बैठे थे, "स्कूल क्या करने गए थे? उस औरत को गिरफ्तार करने?"

अल्बर्ट सकपका गया। हकलाते हुए बोला,

"यस सर ... नो ... सर ... तहकीकात के लिए सर।"

बड़े सा'ब ने जोरदार आवाज में अल्बर्ट को डपटा, "यह 'यस सर' - 'नो सर' क्या लगा रखी है? मैं पूछता हूं, तुम स्कूल क्या करने गए थे? क्या वह औरत तुम्हारी मां-बहन लगती है? स्टुपिड! नत्थू कुम्हार के केस की तहकीकात करने को कहूं तो तुम यहां से वहां तक तमाशा करते हुए उसे थाने बुलवाओगे तहकीकात के लिए, किंतु जब उस औरत की बात उठी तो चल दिए दुम हिलाते हुए स्कूल! ... तुम लोग धर्म के मामले में इतने अंधे क्यों होते हो जी? जानते नहीं, पुलिस की कोई जाति, कोई धर्म नहीं होता! ..." इंस्पेक्टर को लताड़ते हुए बड़े सा'ब अब जी भरकर उसे पुलिस आचार-संहिता का पाठ पढ़ा रहे थे।

अल्बर्ट ने हकलाते हुए उन्हें समझाना चाहा, "सर! आई नो दैट लेडी पर्सलनी। सर, इस मामले में कहीं कुछ गड़बड़ी है, सर! उनकी आत्मा पवित्र है, वे ऐसा नहीं कर सकतीं, सर। सर, प्लीज! मुझे थोड़ी मोहलत दी जाए, तहकीकात का थोड़ा मौका दिया जाए।"

"क्या कहा?" बड़े सा'ब दहाड़े। दहाड़े क्या, लगा कि अल्बर्ट को फाड़ खाएंगे, "पवित्र आत्मा? मैं इन सभी पवित्र आत्माओं की औकात जानता हूं, और तुम्हारी भी। नौ सौ चूहे खाकर बिल्ली चली हज को? वर्दी पहनकर तुम क्या-क्या नहीं कर डालते? क्या वह सब मुझे मालूम नहीं? ... और आज तुम्हें पवित्र आत्मा दिख गई है? ... मूर्ख! तुम कितने पानी में हो, मैं नहीं जानता! ... मैं कुछ सुनना नहीं चाहता। मैं उस मूर्ख औरत को जेल की सलाखों के पीछे देखना चाहता हूं। समझे!"

सिर भन्ना गया इंस्पेक्टर का। डी.आई.जी. को सलाम ठोका। कक्ष से बाहर आए, और गलियारे के कोने में पच्च से थूक दिया। ... साली यह भी कोई नौकरी है? पुलिस की नौकरी! आदमी जैसे काठ-पत्थर हो जाता है। ... जैसे भेड़ियों को वर्दी पहना दी गई हो। ... यह पुलिस का आला अफसर! सिस्टर शुभ्रा जैसी दैवी आत्मा के लिए इतनी गंदी जुबान का इस्तेमाल करता है! मन ही मन कितनी बातें सोच गया इंस्पेक्टर अल्बर्ट! इस समूचे मंथन के परिणामस्वरूप वह यह भी भांप गया कि बड़े सा'ब किसी न किसी कारणवश सिस्टर शुभ्रा से नाराज हैं। ... लेकिन किस कारण से? ... यह अल्बर्ट समझ नहीं पा रहा था।

'सिस्टर यह कारण जरूर जानती होगी', अल्बर्ट ने मन ही मन सोचा, साथ ही यह भी निश्चय किया कि सिस्टर से मिलकर उन्हें सारी बातों से अवगत कराना जरूरी है, वह भी इस तरह

कि बड़े सा'ब को कानों-कान खबर न हो, वरना सस्पेंशन तो तय समझो, बच्चू!-इंस्पेक्टर ने अपने आप को धमकाया।

शतरंज के खेल के पिटे प्यादे की तरह इंस्पेक्टर अल्बर्ट थाने जाने की बजाय घर पहुंचा, वर्दी उतारकर सादे कपड़े पहने और पैदल-पैदल स्कूल पहुंच गया। किस्मत अच्छी थी अल्बर्ट की कि सिस्टर से मुलाकात हो गई। लगभग रो पड़ने वाले अंदाज में अल्बर्ट ने सिस्टर को बताया, “... किसी न किसी वजह से बड़े सा'ब नाराज हैं। ... कयामत आई ही समझनी चाहिए ...”

दूसरे दिन प्रातः नौ बजे देवेंद्र बाबू को रामऔतार बाबू ने फोन किया, “दिलीप को साथ लेकर तुरंत बंगले पर पहुंचें?”

“क्यों?” देवेंद्र बाबू ने जानना चाहा।

“कोई खास बात नहीं! बंगले पर पहुंचो, तुरंत!” कहकर रामऔतार बाबू ने फोन रखा दिया।

दिलीप को साथ लिए देवेंद्र बाबू रामऔतार बाबू के बंगले पर पहुंचे। पहुंचते ही अर्दली ने लंबा सलाम ठोका और कहा, “सा'ब इंतजार कर रहे हैं।”

देवेंद्र बाबू और दिलीप दोनों अंदर चले गए, जाते-जाते इतना गौर किया कि बाहर खुले मैदान में रखी मुलाकातियों की बेंच पर सिस्टर शुभ्रा बैठी हैं, बिल्कुल निस्तेज चेहरा लिए। दिलीप ने हाथ उठाकर उनका अभिवादन भी किया।

रामऔतार बाबू ने उन्हें अपने दफ्तर में बैठाया, और फाइलें देखने में मशगूल रहे।

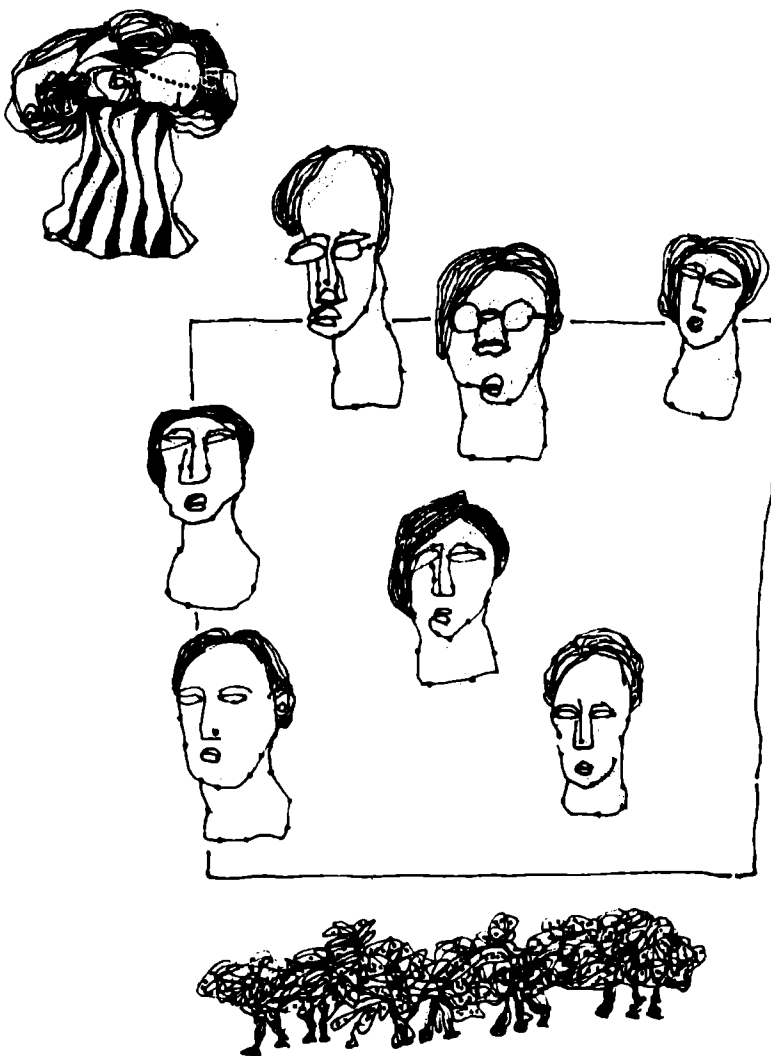
घंटे भर में दिलीप और देवेंद्र बाबू दोनों बेचैन हो उठे। अंततः देवेंद्र बाबू ने टोका, “क्या मजाक है? सुबह-सबरे बुलवा लिया, अब कहो भी कि बात क्या है? हमें भी नौकरी-चाकरी करनी होती है, दफ्तर-कार्यालय जाना होता है।”

रामऔतार बाबू ने व्यस्त भाव से कहा, “थोड़ी देर और बैठना होगा।”

दोनों फिर दम साधकर बैठे रहे, अंततः आधे घंटे और बैठे रहे। ग्यारह बजने जा रहे थे तब रामऔतार बाबू ने ड्राइवर से गाड़ी निकालने को कहा। गाड़ी आ गई तब दिलीप और देवेंद्र बाबू को लेकर गाड़ी में बैठ गए।

ठीक जिस समय गाड़ी स्टार्ट होकर आगे बढ़ने को थी, सिस्टर शुभ्रा लपकती हुई आई, “सर! ...”

रामऔतार बाबू ने बीच में टोक दिया, “अभी



जरा जल्दी में हूं, आप दफ्तर में आइए।”

दफ्तर पहुंचकर रामऔतार बाबू देवेंद्र बाबू और दिलीप को लेकर अपने कक्ष में चले गए। कक्ष में पहुंचकर हल्के से मुस्कराए और धीरे से देवेंद्र बाबू से कहा, “देखा! किस तरह छटपटा रही है! आठ बजे से बैठी थी। मैंने कोई नोटिस नहीं लिया। ... अब पता चल रहा होगा मजा साली को! बहुत तीसमारखां समझती है अपने आप को,” रामऔतार बाबू मजे लेकर बतला रहे थे। उनका इशारा सिस्टर शुभ्रा की ओर है, यह समझने में देवेंद्र बाबू ने तनिक भी भूल नहीं की।

देवेंद्र बाबू ने पूछा, “तो यही देखने को बुलाया था?”

“न-न! अभी कहीं देखा! अभी और देखोगे! थोड़ी देर ठहरो!” रामऔतार बाबू ने हंसकर कहा।

“मुझे नहीं देखना”, देवेंद्र बाबू ने झल्लाकर कहा और कक्ष से बाहर आ गए। उनका मन ग्लानि से भरा जा रहा था। ओह! आदमी का अहंकार भी कितना घातक होता है! पुलिस बर्बर होती है, यह तो देवेंद्र बाबू की प्रारंभिक धारणा थी, किंतु पुलिस का आला अफसर भी इतनी विवेकहीन हो सकता है, यह देवेंद्र बाबू की कल्पना से भी परे था।

एक शरीफ महिला को अनावश्यक इतनी देर तक पुलिस कार्यालय के सामने बैठाए रखना, उसे प्रताड़ित और अपमानित करना नहीं था तो और क्या था? देवेंद्र बाबू भी आम भारतीयों की तरह स्त्री का आदर करते थे, अतः रामऔतार बाबू के प्रति उनके क्रोध का पारा सातवें आसमान पर था। रात रामऔतार बाबू के बंगले पर खाई गई मछली और पी गई किस्की यदि इस वक्त देवेंद्र बाबू उल्टी कर पाते तो उन्हें बड़ा चैन मिलता। परंतु वैसा

हो नहीं पाया।

देवेंद्र बाबू तो कक्ष से निकल गए पर जाते हुए दिलीप को रामऔतार बाबू ने रोक लिया, “तुम ठहरो, दिलीप!”

दिलीप रामऔतार बाबू का मित्र न था, अतः उतना ढीठ न हो सका। उसे बैठना पड़ा।

थोड़ी देर में बड़े सा'ब का अर्दली एक चिट लेकर अंदर आया, जिसे देखकर उन्होंने कहा, “अंदर भेजो!”

सिस्टर शुभ्रा अंदर आई। दिलीप को देखकर एक क्षण को ठिठकी, किंतु रामऔतार बाबू ने बिना समय दिए, उनसे पूछा, “कहिए!”

सिस्टर एक क्षण को चुप रहीं। रामऔतार बाबू ने अबके कठोर स्वर में कहा, “मेरा समय बर्बाद न करें। जो कहना है, जल्दी कहें। दिलीप के होने से कोई फर्क नहीं पड़ता। यह मेरा छोटा भाई है।”

सिस्टर शुभ्रा ने झिझकते हुए कहा, मानो उनका आत्मविश्वास चूर-चूर हो चुका हो, “सर! वो जो स्कूल का धोखाधड़ी वाला मामला था ..”

“नो! नो सिस्टर! मैं उस मामले में कुछ सुनना नहीं चाहता। मैं उसमें कुछ कर भी नहीं सकता। यह मामला कानून का है, इसमें जो भी निर्णय लेना होगा, अदालत ही लेगी,” डी.आई.जी. ने बीच में ही टोककर कहा।

“सर प्लीज! प्लीज आप मेरी बात सुनिए!”

“मैंने कहा न सिस्टर, आप इसमें कुछ न बोलें। आपकी जिम्मेदारी स्कूल है, आप उसे देखें, यह अपराध और अपराधी मेरी जिम्मेदारी हैं, वह मुझ पर छोड़ दें।” रामऔतार बाबू का लहजा खासा व्यंग्यात्मक था, “ठीक है! मुझे और भी बहुत से काम हैं, यू मे गो नाऊ।” कहकर रामऔतार बाबू टेबुल पर रखी फाइल उलटने लगे।

यह पूरी बातचीत और रामऔतार बाबू का लहजा दिलीप को भी नागवार लग रहा था। सरासर सिस्टर को अपमानित किया जा रहा है—यह दिलीप से भी छुपा न रह सका। किंतु वह कर भी क्या सकता था?

अपमानित सिस्टर कक्ष से बाहर निकल गई। सिस्टर के कक्ष से बाहर जाते ही रामऔतार बाबू ने दिलीप से धीरे से कहा, “तुम्हें बैंक जाने की जल्दी होगी। ठीक है! अब तुम जाओ!”

दिलीप ने रामऔतार बाबू का अभिवादन किया और कक्ष के बाहर आ गया।

यद्यपि दूरदर्शन पर आने वाले संगीत-नृत्य के अखिल भारतीय कार्यक्रमों में जिस वक्त देवेंद्र बाबू डूब-उतरा रहे होते हैं, उस वक्त कभी-कभी बड़े बे-मौके उनके भीतर का बुद्धिजीवी तर्क करने लगता है।

बाहर आकर देखा, सिस्टर शुभ्रा डी.आई.जी. कार्यालय की सीढ़ियां उतर रही थीं। उनका चेहरा तमतमा रहा था और चाल बिल्कुल मरी हुई-सी थी। दिलीप को यकीन नहीं हुआ, यह वही सिस्टर शुभ्रा हैं जिनकी तनी हुई सतर आत्मविश्वास से भरी चाल देखकर कितनों के आत्मविश्वास डोल जाते हैं।

सिस्टर ने भी दिलीप को देख लिया। दिलीप को देखकर वह एक क्षण रुकी, फिर उसके पास आई और कातर स्वर में कहा, “प्लीज! प्लीज मि. शरण! फॉर गॉड सेक काइंडली हैल्प मी।”

इधर तीन चार दिनों से देवेंद्र बाबू रामऔतार बाबू के बंगले पर नहीं गए हैं। जाने की इच्छा नहीं होती। जब-जब रामऔतार बाबू का ध्यान आता है, यह लोकोक्ति बरबस याद आती है कि पुलिस और कुत्ते की न तो दोस्ती अच्छी और न दुश्मनी। आजकल देवेंद्र बाबू विश्वविद्यालय से लौटकर सरे-शाम अपने कमरे में समा जाते हैं। कुछ शोध-छात्र, या कोई मिलने वाला आ गया तो ठीक, वरना वहीं बैठकर या लेटकर किताबें पढ़ते हैं या संगीत से दिल बहलाते हैं। इन दिनों एंजिल स्कूल प्रकरण ने देवेंद्र बाबू को खासा अस्त-व्यस्त कर दिया है। उस प्रकरण में वह कहीं न कहीं से खुद को भी दोषी पा रहे हैं, किंतु उनके आक्रोश का केंद्रबिंदु रामऔतार बाबू ही हैं।

आज शाम से कई दफा रामऔतार बाबू की कोठी से उनके लिए फोन आ चुका है, पर हर बार कहला दिया है कि वह घर पर नहीं हैं।

अंततः साढ़े आठ-नौ के बीच रामऔतार बाबू की जीप देवेंद्र बाबू के पुश्तैनी मकान के सामने आकर रुकी। देवेंद्र बाबू का कमरा ठीक गेट के सामने घर के बाहरी हिस्से में पड़ता है। रामऔतार बाबू सीधे देवेंद्र बाबू के कमरे में चले गए। उस वक्त देवेंद्र बाबू बिस्तरे में लेटे हुए कोई

किताब पढ़ रहे थे।

“तबीयत ठीक नहीं है क्या?” रामऔतार बाबू ने दरवाजे से ही स्नेहसिक्त स्वर में पूछा।

देवेंद्र बाबू ने रामऔतार बाबू को देखा तो अनमने से उठ बैठे। बैठे-बैठे ही कहा, “नहीं। ठीक ही है।”

“तो आजकल जनाब के दर्शन क्यों नहीं मिल रहे?” रामऔतार बाबू ने दोस्ताना लहजे में कहा।

“वैसे ही! विश्वविद्यालय से थककर लौटता हूं तो कहीं जाने की इच्छा नहीं होती।” देवेंद्र बाबू ने अनमने भाव से कहा।

“ओ हो! इन दिनों विश्वविद्यालय जाना भी शुरू कर दिया! आजकल विश्वविद्यालय में कक्षाएं भी लेने लगे हो क्या? ... यार! तुम प्रोफेसर तो आराम की नौकरी करते हो! मजे-मजे की रोटी खाते हो,” राम औतार बाबू का लहजा वैसा ही मजाकिया, दोस्ताना और आत्मीयता भरा था।

देवेंद्र बाबू के भीतर से एक कड़वा उत्तर मन ही मन उभरा—हम प्रोफेसर आराम की भले खाते हों, पर तुम्हारी तरह हराय की नहीं खाते। और दिन होता तो देवेंद्र बाबू ने खुलकर यह बात हंसी-हंसी में कह दी होती, परंतु आज यह बात में उन्हें इतनी बड़ी सच्चाई दिख रही थी कि उस सच की ताब लाना उनके लिए मुमकिन नहीं था, अतः प्रकटतः उन्होंने कुछ नहीं कहा।

रामऔतार बाबू ने उनकी नाराजगी लक्ष्य करते हुए उनकी चुप्पी तोड़ने की गरज से पूछा, “क्यों? नाराज हो क्या?”

अबके देवेंद्र बाबू बोले, “नाराज होकर भी मेरे जैसा अदना आदमी तुम्हारे जैसे आला अफसर का क्या बिगाड़ लेगा?”

रामऔतार बाबू ठठाकर हंस पड़े, “यार! मुंह फुलाने में तो आज तुम औरतों को भी मात कर रहे हो! क्या बात है?”

देवेंद्र बाबू तब भी चुप ही रहे।

“अच्छा छोड़ो! बतलाओ, तुम्हारी चिंता दूर हुई? दिलीप के बच्चे को दाखिला मिला?”

प्रत्युत्तर में देवेंद्र बाबू भक्क से सुलग उठे, “हां! मिल गया ... आज जब मैं विश्वविद्यालय गया हुआ था तो स्कूल से एक चपरासी घर आया, दिलीप को बुलाकर स्कूल ले गया और सिस्टर ने अपनी कलम से अभिषेक का दाखिला स्कूल में ले लिया। ... किंतु समझ लो, यदि मैं घर में रहा होता तो बच्चे को कतई दाखिला नहीं लेने देता।”

“तो गनीमत समझें कि तुम विश्वविद्यालय चले गए थे, वरना यदि आज भी बच्चे का दाखिला नहीं हुआ होता तो समझ लो, कल शहर की सड़कों पर खून बहता।” रामऔतार बाबू ने तनिक क्रोध से कहा।

“तुम्हारे लिए आदमी का खून इतना सस्ता है? एक बच्चे के दाखिले की खातिर तुम सड़कों पर खून बहा देते?” देवेंद्र बाबू ने हिंकारत से पूछा।

“क्यों नहीं? ... क्या यह मामला सिर्फ एक बच्चे के दाखिले का रह गया था? उस बदजात औरत ने क्या नहीं किया? नेहा को गालियां दीं, मैंने उससे जो अनुनय-विनय की, उसकी कोई कद्र उसने नहीं की, ऊपर से मुझे व्यवस्था, प्रशासन और नैतिकता का पाठ पढ़ाने पर उतारू हो गई। क्या किसी गुंडे, शहर के किसी डॉन से भी उसका यही व्यवहार रहा होता? एक घुटभैये नेता का तो नाम सुनकर भी ये स्कूल वाले सिर के बल खड़े हो जाते हैं, और मैं, एक सरकारी अफसर, उनसे भी गया बीता हूँ? अगर मैं अपने अधिकार का गलत प्रयोग नहीं करता, तो उसका क्या अर्थ है कि मेरी कोई हस्ती, कोई औकात ही नहीं? ... तुम, एक शरीर-आदमी, क्या तुम्हारी कोई हस्ती, कोई औकात नहीं? ... आखिर मैं भी कितना बर्दाश्त करता? मेरा भी आत्माभिमान है।” रामऔतार बाबू ने तेज स्वर में कहा।

“अच्छा-अच्छा! तुम्हारे पास आत्माभिमान है! किंतु, दूसरों के पास भी वह चीज हो सकती है। उनके आत्माभिमान का क्या होगा?” देवेंद्र बाबू ने व्यंग्य और रोष से भरकर पूछा।

“इसे तुम आत्माभिमान कहते हो? दूसरों को अपमानित करना आत्माभिमान है? मैंने पहले भी उस औरत के बारे में सुना है कि स्कूल के मामले में उसका रवैया अक्सर अभिभावकों को अपमानित करने का रहता है,” रामऔतार बाबू ने प्रतिवाद किया।

“यह बात तुम पर भी लागू होती है,” देवेंद्र बाबू ने कहा।

“नहीं! यह बात मेरे विषय में सच नहीं है। यह घौंस, यह रूखा व्यवहार हम पुलिस वालों की कार्यशैली का एक अंग भी है, हमारा हथियार है। अगर हम नरम रहें, तो कोई भी हमारी नहीं सुने।”

“यह तुम्हारा मुगलता है।”

“चलो, मुगलता ही सही! हम तो दुनियावी जीव हैं, हम दया-धर्म का ढकोसला भी नहीं करते, किंतु, यह बतलाओ कि जिन लोगों ने धर्म के

नियमों का लबादा ओढ़ रखा है, अपने आप को किसी धार्मिक समुदाय के शीर्ष का व्यक्ति समझते हैं, उनके व्यवहार में गाली-गलौज या आत्मश्लाघा क्या उचित है? कौन-सा धर्म इन बातों की इजाजत देता है? ...”

देवेंद्र बाबू ने रामऔतार बाबू को बीच में ही टोक दिया, “तुम चाहे लाख दलीलें दो, मैं तुम्हारे इस कृत्य को उचित नहीं स्वीकार कर सकता।”

प्रत्युत्तर में रामऔतार बाबू ने तैश में कहा, “बात तुम्हारी हो, या सिस्टर शुभ्रा की, तुम सारे शिक्षक एक मामले में बिल्कुल एक जैसे होते हो कि अपनी खोल में बंद रहते हो और अपने आप को दुनिया से ऊपर की चीज समझते हो। एक झूठा नैतिक आदर्शवाद तुम पर हावी रहता है, किंतु, जब उस आदर्शवाद पर तुम्हारे खुद के आचरण की बारी आती है, तुम कन्नी काटकर रास्ता बदल जाते हो। ... वैसे तुम बहुत दुखी नहीं होओ। मैं औरतों की बड़ी कद्र करता हूँ और मैं सिस्टर शुभ्रा को कुछ होने नहीं देता। फिर भी, इतनी धौंस और गीदड़-भभकियाँ जरूरी थीं, वरना तुम्हारा काम नहीं हुआ होता। मैं जानता था कि यदि यह केस इंस्पेक्टर अल्बर्ट के हाथ में जाएगा तो वह दौड़-दौड़कर सिस्टर को पुलिस की सारी कार्रवाइयों से अवगत कराता रहेगा, और अंततः सिस्टर इस गीदड़-भभकी का शिकार हो जाएगी! इन नैतिक आदर्शवादियों के व्यवहार का यह फर्क देखो कि यही बात जब इंस्पेक्टर पांडेय कहने गया था तो सिस्टर ने उसे ‘धौंस’ समझा, और वही बात जब इंस्पेक्टर अल्बर्ट कहने गया तो उसे सहानुभूति समझा गया। ... लोग धर्म का चोगा पहन लेते हैं और अपने आप को धार्मिक व्यक्ति समझने लगते हैं, किंतु धर्माचरण, सभी लोगों को समदृष्टि से देखने के धार्मिक आदर्श पर अमल करना, इस चोगे को पहन लेने जितना आसान नहीं होता।”

बड़ी देर से चुप बैठे देवेंद्र बाबू ने आक्रोश से कहा, “कह चुके, जो कहना था? सुनो! मैं तुम्हारी किसी भी बात पर, किसी भी दलील पर रस्ती भर भी विश्वास नहीं करता ...”

बहस लंबी होती गई। कोरे वाग्युद्ध का जो परिणाम होता है, वही उस दिन भी हुआ, देवेंद्र बाबू और रामऔतार बाबू एक-दूसरे से बहुत नाराज हुए। रामऔतार बाबू के क्रोध के निशाने पर आम आदमी और देवेंद्र बाबू जैसे ‘कसुआ छाप’ बुद्धिजीवी थे तो देवेंद्र बाबू के आक्रोश का मुहाना प्रशासन, पुलिस और संपूर्ण व्यवस्था की ओर खुल रहा था। रात गए दोनों ने मन का क्रोध दबाते हुए एक-दूसरे से विदा ली।

रामऔतार बाबू के जाने के बाद देवेंद्र बाबू

ने कसम खाई, बहुत हो लिया, अब पुलिस से दोस्ती नहीं करेंगे, पुलिस वालों से कोई आमदगुप्त भी नहीं रखेंगे। आज के बाद रामऔतार बाबू से मिलना-जुलना बंद करना पड़ेगा।

और ...

... और, धीरे-धीरे सब कुछ ढर्रे पर आ गया है। बच्चा बदस्तूर स्कूल जाने लगा है। कभी-कभार स्कूल जाने के पहले मचलता है, रोता है, स्कूल न जाने की जिद करता है—जैसा आमतौर पर सभी बच्चे किया करते हैं। फिर भी, नेहा - दिलीप फिलहाल बच्चे की पढ़ाई को लेकर आश्वस्त हैं।

देवेंद्र बाबू भी सहज हो चले हैं। उनके भीतर के समाजशास्त्र के प्रोफेसर ने उन्हें समझा दिया है कि समाज-व्यवस्था आदमी के लिए जरूरी चीज है। यद्यपि दूरदर्शन पर आने वाले संगीत-नृत्य के अखिल भारतीय कार्यक्रमों में जिस वक्त देवेंद्र बाबू डूब-उतरा रहे होते हैं, उस वक्त कभी-कभी बड़े बे-मौके उनके भीतर का बुद्धिजीवी तर्क करने लगता है कि व्यक्ति समाज के लिए होता है या समाज व्यक्ति के लिए? ... इन दिनों अक्सर देवेंद्र बाबू का मन एक विशेष चित्र को बनाने को उद्यत होने लगा है। देवेंद्र बाबू कैनवास पर एक ऐसा चित्र अंकित करना चाहते हैं जिसमें मनुष्यों का एक वृहत तंत्र चाभी की शक्ति में उभरे और यह चाभी उस तंत्र का हिस्सा हो गए प्रत्येक व्यक्ति के हाथ में हो। किंतु चित्र देवेंद्र बाबू ने कभी बनाए नहीं, न ही उन्हें चित्रकला का समुचित ज्ञान हो है, अतः वे यह भी नहीं समझ पाते कि ऐसा चित्र बना पाना कैसे संभव होगा?

फिर भी, देवेंद्र बाबू के भीतर का प्रोफेसर जिंदा है, बुद्धिजीवी जिंदा है। कला-प्रेमी और दोस्त भी जिंदा है। क्या इन छोटी-छोटी बातों के लिए कोई दोस्ती जैसी अनमोल चीज छोड़ता है? दोस्ती तो आत्माओं का गठबंधन है, राग-द्वेष-भय-क्रोध घृणा से ऊपर की चीज। बहसों तो दोस्ती का, विशेषतः बुद्धिजीवी दोस्तों के बीच बातचीत का, भूषण हैं। सो, तालाब के किनारे बैठकर फूलों के सौंदर्य को पीते हुए तालाब में से मछली पकड़कर, उन्हें तलवाकर खाने का शौक फिर परवान चढ़ने लगा है। आजकल तो देवेंद्र बाबू और भी मौज में हैं क्योंकि अंतर्राष्ट्रीय क्रिकेट मैचों की बहार आई हुई है। स्पिन देवेंद्र बाबू को खास मजा देती है। ... हां! जब किसी बाउंसर को सिर पर झुका कर बल्लेबाज बचा ले जाता है तो देवेंद्र बाबू को बेसाखा सिस्टर शुभ्रा याद आ जाती है ...। □

फिराक : कुछ गज़लें, कुछ रुबाइयां

एक

सुकूते - शाम¹ मिटाओ बहुत अंधेरा है
सुखन² की शम्'आ जलाओ, बहुत अंधेरा है

चमक उठेंगी सियह-बखतियां³ जमाने की
नवा-ए-दर्द⁴ सुनाओ, बहुत अंधेरा है

हरेक चिराग से हर तीरगी⁵ नहीं मिटती
चिरागे - अशक⁶ जलाओ, बहुत अंधेरा है

दियारे - गम⁷ में दिले-बेकरार छूट गया
संभल के दूढ़ने जाओ, बहुत अंधेरा है

ये रात वो है कि सूझे जहां न हाथ को हाथ
खयालो⁸ दूर न जाओ, बहुत अंधेरा है

वो खुद नहीं जो सरे-बज्मे-गम⁹, तो आज उसके
तबस्सुमों को¹⁰ बुलाओ, बहुत अंधेरा है

ये तीरगी-ए-फजा-ए-जहां¹¹ मुहब्बत के
नसीबे-खुफ्ता¹² जगाओ, बहुत अंधेरा है

पसे-गुनाह¹³ जो ठहरे ये चश्मे-आदम में¹⁴
इन आंसुओं को बहाओ, बहुत अंधेरा है

फराजे-दिल¹⁵ को सदा दो कोई बतर्जे-कलीम¹⁶
चिरागे-तूर जलाओ, बहुत अंधेरा है

दिलों के सोजे-निहां से¹⁷ नए उफक¹⁸ के करीं¹⁹
इक आफताब²⁰ बनाओ, बहुत अंधेरा है

हवा-ए-नीम शबी²¹ हो कि चादरे-अंजुम²²
नकाब रुख से उठाओ, बहुत अंधेरा है

बिसाते-अर्जो-समां के²³ तो बुझ चुके हैं कंवल
चिराग दिल के जलाओ, बहुत अंधेरा है

गमे-‘फिराक’ की तनहाइयों की आहट पर
कशां-कशां²⁴ चले आओ, बहुत अंधेरा है

शबे-सियाह में²⁵ गुम हो गई है राहे-हयात²⁶
कदम संभल के उठाओ, बहुत अंधेरा है

बहस है ऐसे में बेदारी-ए-महो-अंजुम²⁷
उन अंखड़ियों को जगाओ, बहुत अंधेरा है

ये गम की रात तो कटती नज़र नहीं आती
इक और रात बनाओ, बहुत अंधेरा है

गुज़श्ता अहद की²⁸ यादों को फिर करो ताज़ा
बुझे चिराग जलाओ, बहुत अंधेरा है

थी एक उचटती हुई नींद ज़िंदगी उसकी
‘फिराक’ को न जगाओ, बहुत अंधेरा है।

दो

कफ़स से²⁹ छुट के वतन का सुराग³⁰ भी न मिला
वो रंगे-लाला-ओ-गुल था कि बाग भी न मिला

खुला है होश में आकर फरेबे-बादा कशी³¹
सियाहकारों के³² दामन को दाग भी न मिला

हरीफे-खिज़्र³³ था हर मस्ते-बादा-ए-इफ़र्³⁴
दलीले-राह³⁵ मगर इक चिराग भी न मिला

निगाहे-मस्त वहां ले गई मुहब्बत को
जहां का होशे-जुनूं को सुराग भी न मिला

ये जोशे-मय³⁶, ये भरा मैकदा³⁷, ये अब्र³⁸, ये बाद³⁹
ज़हे-नसीब!⁴⁰ कि खाली अयाग⁴¹ भी न मिला

उम्मीदवार उसी के थे मेहमाने-बहार

उड़ी तो बू-ए-चमन का दिमाग भी न मिला

‘फिराक’ मोजिज़ा-ए-सोज़ो-साज़⁴² क्या करते
उभर सके जो किसी से वो दाग भी न मिला

तीन

सर में सौदा भी नहीं दिल में तमन्ना भी नहीं
लेकिन इस तर्के-मोहब्बत का भरोसा भी नहीं

ये भी सच है कि मोहब्बत में नहीं मैं मजबूर
ये भी सच है कि तेरा हुस्न कुछ ऐसा भी नहीं

बदगुमां होके न मिल दोस्त जो मिलना है तुझे
ये झिझकते हुए मिलना कोई मिलना भी नहीं

यूं तो हंगामे उठाते नहीं दीवाना-ए-इश्क
मगर ऐ दोस्त कुछ ऐसों का ठिकाना भी नहीं

शिकवा-ए-जौर करे क्या कोई उस शोख से जो
साफ कायल भी नहीं साफ मुकरता भी नहीं

मेहरबानी को मोहब्बत नहीं कते ऐ दोस्त
आह मुझसे तो तेरी रजिशे-बेजा भी नहीं

मुद्रतों गुजरीं, तेरी याद भी आई न हमें
और हम भूल गए हों तुझे, ऐसा भी नहीं
मुंह से हम अपने बुरा तो नहीं कहते कि 'फिराक'
है तेरा दोस्त मगर आदमी अच्छा भी नहीं।

चार

निगाह-ए-नाज़ ने परदे उठाए हैं क्या-क्या
हिजाब अहल-ए-मुहब्बत को आए हैं क्या-क्या

जहां में भी बस एक अफवाह तेरे जलवों की
चिराग़ दैर-ओ-हरम झिलमिलाए हैं क्या-क्या

दो चार बर्क तजल्ली से रहने वालों ने
फरेब नर्म निगाही के खाए हैं क्या-क्या

निसार नरगिस-ए-मैगू के आज पैमाने
लबों तक आते हुए थरथराए हैं क्या-क्या

वो एक ज़रा-सी झलक बर्क कम निगाही की
जिगर के ज़ख़्म निहां मुस्कुराए हैं क्या-क्या

चिराग़-ए-तूर जले आईना दर आईना
हिसाब बर्क अदा ने उठाए हैं क्या-क्या

बक़दर जौके नज़र दीद हुस्न क्या हो मगर
निगाह-ए-शौक में जलवे समाए हैं क्या-क्या

कहीं चिराग़ कहीं गुल कहीं दिल-ए-बर्बाद
खराम-ए-नाज़ ने फ़ितने उठाए हैं क्या-क्या

नज़र बचा के तेरे इश्क़ - हाए पिन्हां में
दिलों में दर्द-ए-मुहब्बत उठाए हैं क्या-क्या

पयाम-ए-हुस्न, पयाम-ए-जुनू, पयाम-ए-फना
तेरी निगाह ने फसाने सुनाए हैं क्या-क्या

तमाम हुस्न के जलवे तमाम महरूम
भरम निगाह ने अपने गंवाए हैं क्या-क्या

फिराक राह-ए-वफा में सुबक रवी तेरी
बड़े-बड़ों के कदम डगमगाए हैं क्या-क्या!

रुबाइयां

पंडित जी, शेख जी, महाजन, काजी
अब लड़-भिड़कर हुए हैं इस पर राजी
जनता को लगी रट नई दुनिया की
मिलकर नारा लगाओ माजी-माजी!

क्या कहते थे इसका तो किसे होश रहा
हां बज्म में तकरीरों का इक जोश रहा
देखा जो ये रंग होश वालों का 'फिराक'
दीवाना भी कुछ सोच के खामोश रहा!

करते नहीं कुछ तो काम करना क्या आए
जीते जी जां से गुजरना क्या आए
रो-रो के मौत मांगने वालों को,
जीना नहीं आ सका तो मरना क्या आए!

हर जल्चे से इक दर्से-नुमू लेता हूं
छलके हुए सद जामो-सुबू लेता हूं
ऐ जान-ए-बहार तुझपे पड़ती है जब आंख
संगीत की सरहदों को छू लेता हूं!

ऐ जिंदगी-ए-गम तेरी वहशत देखी
तेरी नैरंगी-ए-तबीयत देखी
खुलते नहीं तेरे भेद, मैंने तुझमें
हंस देने की रोते-रोते आदत देखी!

लहरों में खिला कंवल नहाए जैसे
दोशीजा सुबह गुनगुनाए जैसे
ये रूप, ये लोच, ये तरनुम, ये निखार
बच्चा सोते मैं मुस्कुराए जैसे!

प्रस्तुति : इरफान

1. शाम की चुप्पी 2. शायरी 3. दुर्भाग्य 4. दर्द भरी आवाज़ 5. अंधेरा 6. आंसुओं के
दिये 7. गम रूपी नगर में 8. विचारो 9. गम रूपी सभा में 10. मुस्कानों को 11. संसार
के वातावरण का अंधेरा 12. सोते भाग 13. पाप के बाद 14. मानव की आंखों में 15.
मन की उच्चता 16. हज़रत मूसा जैसा ढंग (जिन्होंने तूर नामक पहाड़ पर खुद से बातें
की थीं) 17. निहित तपन से 18. सितिज 19. करीब 20. सूर्य 21. आधी रात की हवा

22. सितारों की चादर 23. घरती और आकाश के बिछौने के 24. खिंचे-खिंचे 25. काली
रात में 26. जीवन-मार्ग 27. चांद-सितारों का जागरण 28. बीते काल की 29. पिंजरे से
30. पता 31. मदिरापान का घोखा 32. दुराचारियों के 33. वयोवृद्ध पथ-प्रदर्शक का
प्रतिद्वंद्वी 34. ज्ञान रूपी मदिरा द्वारा मस्त 35. मार्ग का प्रमाण 36. मदिरा का जोश 37.
मधुशाला 38. बादल 39. हवा 40. अहोभाग्य 41. प्याला 42. सोजो-साज़ का चमत्कार

स्त्री : दो कविताएं

रमेश चंद्र पंत

एक

उड़ना चाहती थीं तुम
तितलियों की तरह
पीना चाहती थीं
रस-गंध
फूलों का
अपनी गहन
ऐकात्मिक उपस्थिति के साथ
झर गए पर
इंद्रधनुषी पंख असमय
खो गईं
जाने कहाँ
अकुलाहटों में
खिलखिलाहट
स्वर कहीं से गूँजता
आहत पखेरू का
उतरती शाम/धीरे से
व्यथित हैं
आहटें/निःशब्द
शोकित दृष्टियाँ
शायद यही
क्षण-क्षण—क्षण है
पार इसके
स्वप्न मोहक
टेरते हैं— टेर
शायद बांसुरी की
चाहते हैं मुक्त होना
युक्त होना
कालदर्शी स्वप्न-दंशों से।

दो

तुम
बुनना चाहती हो
एक घर
ठीक पुरानी ऊन के
स्वेटर की तरह
डालती हुईं
बार-बार टूटती ऊन में
गांठ
घर-जीवन
भीतर-बाहर
सहेजते हुए
क्षण/प्रिय-अप्रिय
नहीं है
आकाश
अपनी बांहों में समेटना क्या?
स्त्री हो तुम
बसी है
तुम्हारी आत्मा में
एक कोपल—उम्मीद
घर को
घर बनाए रखने की
अपनी कुरूपताओं के बावजूद
सागर-मंथन ही तो है
धर्म-अर्थ
काम-मोक्ष
जीवन-मरण
पीना हलाहल
और रखना सुरक्षित
अमृत घट
स्वयं के अतिरिक्त
अन्यान्यों के लिए।

कबीर और रैबले : चिंतन के दो छोर

सोलहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में हिंदी और फ्रांसीसी साहित्य में परिवर्तनशील एवं क्रांतिकारी चेतना पर प्रकाश सत्येन नटराजन

व्यक्तिगत और सामाजिक एवं उसी प्रकार मानसिक और भौतिक जगत में विशुद्ध परिवर्तन और सोद्देश्य परिवर्तन में भेद किया जा सकता है। आग और पानी परिवर्तन के द्योतक हैं, परंतु अधिकांश परिवर्तन ऐंद्रिक या मानसिक दृष्टिकोण से या तो संदर्भहीन हैं या अगोचर, जैसे कि एक नदी में पुनः प्रवेश करने का ऐंद्रिक विभ्रम होना। परिवर्तन का अर्थ मानसिक वृत्तियों के संदर्भ में भविष्य की अनिश्चितता, और विशेषकर उसकी अवांछनीय अथवा अप्रत्याशित संभावना में निहित है। वैज्ञानिक, दार्शनिक, वस्तुनिष्ठ अथवा बौद्धिक विश्लेषण के फलस्वरूप भी भविष्य का अगम्य स्वरूप ज्यों-का-त्यों बना रहता है, परंतु सामान्यतः भविष्य का यह अज्ञान व्यक्तिगत दुख या चिंता का कारण नहीं बनता। परिष्कृत सभ्यताओं, और विशेषकर आधुनिक युग में मूल्य-सृजन प्रक्रिया के निरंतर आधुनिकीकरण के अलावा विभिन्न यंत्रों, माध्यमों या वैचारिक रूढ़ियों द्वारा भविष्य के अगम्य होने के बावजूद उसका एक कामचलाऊ पूर्वाभास मिलता रहता है, परंतु यह अधिकतम मनुष्य के भविष्य के प्रति भय और आतंक को सीमित या सहनीय ही बना सकता है। इसका पूर्ण निराकरण विश्व की मानवीय अवधारणा की संरचना के नियमों के संदर्भ में संभव नहीं है।

विशुद्ध परिवर्तन की परिकल्पना एक प्रकार की निस्संग एवं निष्प्रयोजन मनोवृत्ति पर आधारित है, जो किसी सभ्यता विशेष द्वारा सीमित होने के बावजूद उस सभ्यता अथवा किसी भी सभ्यता के मौलिक व संरचनात्मक उपादानों का अतिक्रमण करती है। वैज्ञानिक, दार्शनिक या वस्तुनिष्ठ मनोभाव निस्संग और निष्प्रयोजन नहीं होते और वह सामाजिक व्यवस्था को सुदृढ़ करने वाली मनोवृत्ति प्रासंगिक और प्रयोजनात्मक शैली के अनुरूप ही काम करती है। विशुद्ध परिवर्तन का विचार विश्व के प्रति एक प्रकार का नैतिक और बौद्धिक दुस्साहस है, जिसके अनुसार एक विसंगत, पर कालबद्ध परिवर्तन की आकस्मिकता की एक सीधी और निर्बाध अवधारणा संभव है। इस दृष्टिकोण से परिवर्तन एक स्वतःस्फूर्त एवं अंशतः ऐंद्रिक और बौद्धिक स्तर पर ग्राह्य होते हुए भी एक सुसंबद्ध नैतिक या वैज्ञानिक विचार-प्रणाली के रूप में समझा नहीं जा सकता।

क्रांति का विचार या कर्म वैज्ञानिक और नैतिक परंपरा का चेतन पक्ष सामने लाते हैं, जो मनुष्य की अपने संश्लिष्ट परिवेश के प्रति एक सजग और सोद्देश्य प्रतिक्रिया है। इस दृष्टि से क्रांति और सुधार में अंतर मात्र शैली का है। दोनों ही दृष्टिकोण मूलतः भविष्य की घटनाओं को निर्देशित या नियंत्रित करने में मानवीय आस्था के प्रतीक हैं। भविष्य से तात्पर्य विश्व के अनिश्चित कालबद्ध स्वरूप से है जिसका व्यक्तिगत, मानसिक और

भौतिक के अलावा अंतर-व्यक्ति संबंध भी है, जिसको सामाजिक संबंधों से पृथक् श्रेणी में रखा जाना चाहिए। इन सभी पक्षों का समावेश करने के बाद वर्तमान और भविष्य का ऐंद्रिक एवं बौद्धिक ज्ञान विश्व की जिस संज्ञेय संरचना को जन्म देता है, उसे मानवीय परिवेश कहा जा सकता है। अंततः इस परिवेश के प्रति सुधारवादी और उससे भी बढ़कर क्रांतिकारी विचार स्वयं में रूढ़िवाद के दास हैं, जो विश्व को किसी-न-किसी अर्थ में नियमबद्ध और एक सीमा तक नियतिवादी और ज्ञेय मानते हैं। आत्मपरक एवं मानसिक दृष्टिकोण से क्रांति आकस्मिक, अनिश्चित या अज्ञेय घटना न होकर सोद्देश्य, नियतिवादी और मानवीय प्रयत्न द्वारा अस्तित्व में आती है। विशुद्ध परिवर्तन में अनिश्चितता का आतंक है, जब कि क्रांति में आशा के चमत्कार का सुखद विस्मय।

मनुष्य के विचार और कार्यों की लयबद्धता विशुद्ध परिवर्तन के विचार से कुछ इस प्रकार भंग की जा सकती है कि वह अनवरत परिवर्तन की धारा में एक नवीन, परंतु परिभाषित और सुनियोजित व्यवस्था में आस्था को जन्म दे सके। परिभाषा और नियति से भविष्य की घटनाओं की जो परिकल्पना प्रारंभ में मात्र विचार और बाद में वर्ग द्वारा परिलक्षित होती है, वह क्रांतिकारी रूढ़िवाद का आधार है। यह क्रांतिकारी रूढ़िवाद परिवर्तन के प्रति चमत्कारोन्मुख आग्रह से प्रभावित रहता है, जिसकी अभिव्यक्ति या तो स्वर्ग की स्थिरता में है अथवा विश्व परिचालन की एक कड़ी परिभाषा में। क्रांति को किसी भी व्यवस्था का प्रतिरोध माने जाने से इसके स्थूल सांसारिक परिदृश्य का वस्तुपरक और कामचलाऊ ज्ञान प्राप्त हो सकता है, परंतु इस विधि से क्रांति या परिवर्तन के रूपवादी आयाम स्पष्ट नहीं हो सकते। क्रांति के वस्तुपरक या ऐंद्रिक अध्ययन का अनभिव्यक्त पक्ष क्रांति के व्यावहारिक प्रतिफल के प्रति एक प्रकार के पूर्वाग्रह में निहित है। जिस प्रकार इतिहास में वे घटनाएं अधिक महत्वपूर्ण लगती हैं, जिनके बारे में या तो आकस्मिक परिस्थितियों के कारण हमें पूर्ण जानकारी है अथवा जिन घटनाओं में हम वर्तमान की तरह के परिचित लक्षण देखते हैं, उसी प्रकार किसी विचार या कर्म का प्रभाव उसकी आंतरिक गुणवत्ता न होकर आकारहीन सांसारिक घटनाक्रम का एक भाग मात्र है। चित्तवृत्तियां तो और भी अधिक अनिश्चित हैं। इस दृष्टि से इतिहास में सफलतापूर्वक विकसित होने वाले सार्वभौमिक धर्मों और विचार प्रणालियों के द्वारा विश्व की कालबद्ध अनिश्चितता, आकारहीनता और विसंगति के अनेक महत्वपूर्ण और व्यावहारिक रूप से सफल समाधान खोजे गए। भारत में भक्ति आंदोलन और संत कवियों के द्वारा विश्व की आकारहीनता और विसंगति को, जो कि अपनी विशुद्ध परिवर्तनशीलता में अज्ञेय है, ईश्वरीय लीला और माया की संज्ञा दी, वहीं

दूसरी ओर सामी धार्मिक परंपरा में, और विशेषकर इस्लाम में विश्व को ईश्वर का खेल मानने को पूर्णतः गलत ठहराया गया। सामी धार्मिक परंपरा, और विशेषकर इस्लाम के अनुसार विश्व गंभीर रूप से नियंत्रित वस्तुओं का एक विशाल घटनाक्रम है, जिसका अस्तित्व मनुष्य के लिए ईश्वरीय शक्ति के प्रतीक के रूप में उसकी आस्था, कर्म और संपूर्ण व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन के सफल परिचालन का आधार है। अंततः ईश्वर-प्रदत्त मनुष्य के अस्तित्व और उसकी इच्छा-शक्ति को दैवी रूप से निर्धारित दिशा में गति देने के लिए विश्व ही मनुष्य की कर्मभूमि है जो माया के विपरीत ठोस, वस्तुनिष्ठ और वास्तविक है। सामी धार्मिक वैचारिक परंपरा का विश्व-दृष्टिकोण क्रांति के आधुनिक विचार से काफी नजदीक है, क्योंकि क्रांति के विचार में भी ज्ञेय यथार्थ और उस पर आधारित सत्य की उद्घोषणा का विशेष महत्व है, जो मनुष्य के कर्म और विचारों के लिए एक पूर्व-निर्देशित और 'सही' मार्ग का आह्वान करता है।

हिंदी साहित्य की संत परंपरा और शायद संपूर्ण भक्ति आंदोलन में क्रांति का विचार बीज रूप में विद्यमान है, परंतु उसकी सांस्कृतिक और वैचारिक जलवायु कुछ ऐसी है कि उसमें वह बीज अंकुरित नहीं हो सकता। इसका एक उदाहरण कबीर हैं। किसी भी क्रांतिकारी विचार में एक 'सामी' तत्व रहता है, जिसके द्वारा प्रतिरोध, आलोचना या कर्म के लिए उत्प्रेरणा या दिशा-निर्देश मिलता है। इसके लिए प्रतिरोध हेतु कोई व्यवस्था, विचार या व्यक्ति होना आवश्यक है। यहां 'शत्रु' की परिभाषा का 'वास्तविक' होना उतना महत्वपूर्ण नहीं है, जितना कि शत्रु के ऐंद्रिक या मानसिक स्वरूप द्वारा सशक्त और एकांगी मनोभावों का उत्पन्न होना। अतः सामी यथार्थमूलक तत्व प्रखर भावोद्वेग से जुड़ा हुआ है, जिसके द्वारा व्यवस्था और परिवर्तन का सामंजस्य संभव है। कबीर के क्रांतिकारी विचार का शत्रु-तत्व दो भिन्न धार्मिक और दार्शनिक परंपराओं की व्यवस्थामूलक रूढ़िवादिता में निहित है। कबीर के क्रांतिकारी स्वर के लिए यह स्थिति कुछ विषम है, क्योंकि शत्रु-तत्व की युग्मकता उसकी स्पष्ट परिभाषा या अवधारणा में बाधक है विशेषकर जब कि यह तत्व मूलतः विपरीतार्थक धार्मिक परंपराओं पर आधारित है। इस स्थिति में कबीर हिंदू और मुस्लिम संस्कृतियों के प्रतिरोध में अपनी प्रखर और पक्की निशानेबाजी के लिए कोई उचित स्थान खोजने में असफल रहते हैं। हजारी प्रसाद द्विवेदी ने कबीर के द्विअंगी भारतीय संस्कृति के प्रति तटस्थ भाव को दर्शाया है, क्योंकि कबीर में हिंदू और मुस्लिम संस्कारों को ग्रहण करने के रास्ते बंद थे, जिससे वह न तो ठीक से हिंदू थे और न ही मुसलमान। यह तटस्थ की स्थिति कालबद्ध परिवर्तन के अंतर्गत तटस्थ नहीं बनी रह सकती, परंतु इस स्थिति-परिवर्तन को अपेक्षाकृत पूर्व-निर्देशित या अभिधेय नहीं माना जा सकता जिससे क्रांतिकारी विचार का सामंजस्य नहीं हो सकता। फिर भी तटस्थ की कालबद्ध अनिश्चितता व्यवस्था और व्यवस्थामूलक विचारधारा के लिए खतरनाक है, क्योंकि इसमें सामान्य और सर्वतोमुखी अतिक्रमण की संभाव्यता निहित है। यदि द्विवेदी जी के विचार से हम अपने को सहमत पाते हैं, तो निस्संदेह कबीर के सर्वतोमुखी अतिक्रमण से क्रांति के विचार का विरोध बना रहेगा, जो स्वयं में भविष्य के प्रति किसी व्यवस्था विशेष के विचार से प्रभावित है।

कुछ सीमा तक कबीर का फक्कड़पन अबाध एवं स्वतःस्फूर्त अतिक्रमण को परिलक्षित करता है, पर यह तटस्थता सतही है क्योंकि उनके विरोध का स्वर हिंदू धार्मिक और दार्शनिक परंपरा से अभिभूत है, जिसमें इस्लामी धार्मिक तत्वों जैसे एकेश्वरवाद इत्यादि का मध्ययुगीन हिंदू धर्म द्वारा आत्मसात रूप ही देखने में आता है। यही कारण है कि मध्ययुगीन भारत की मुस्लिम वैचारिक परंपरा में (जो नगण्य है) कबीर जैसे प्रखर व्यक्तित्व

को कोई स्थान नहीं दिया गया। जहां एक ओर कबीर के पास हिंदू दार्शनिक विचारधारा की गहरी समझ थी, वहीं इस्लाम संबंधी उनका ज्ञान संभवतः कुछ सतही था। एक उक्ति में उन्होंने मुल्ला की अजान का मजाक बनाते हुए कहा है कि अजान की कोई आवश्यकता नहीं क्योंकि खुदा बहरा नहीं है, पर वास्तव में अजान खुदा को नहीं, अपितु मुसलमानों को सुनाने के लिए दी जाती है। इस प्रकार की गलती कबीर हिंदुओं के संदर्भ में करते प्रतीत नहीं होते। कबीर की निर्गुण भक्ति या रहस्यवाद का हिंदू धार्मिक या दार्शनिक परंपरा से कोई मूल भेद नहीं है जो कर्म, पुनर्जन्म और संसार के मायावी होने पर आधारित है। कबीर के आध्यात्मिक विचारों का परिवर्तन या क्रांति से कोई सीधा संबंध परिलक्षित नहीं होता। शायद निर्गुण ब्रह्म की परिकल्पना में इस्लामी एकेश्वरवाद की छाया दिखाई दे सकती है, परंतु इस्लामी ईश्वर का सगुण पक्ष इतनी कठोरता से परिभाषित है कि *कुरान* की मूल शिक्षा को बिना तोड़े-मरोड़े उसका रहस्यवादी निर्गुण या सूफी पक्ष प्रतिपादित नहीं किया जा सकता।

कबीर को धार्मिक परंपरा में महान कवि का दर्जा हासिल है, पर वह विचारक नहीं हैं। मौलिक चिंतन और अनुभूति का अभाव उनकी और उनके युग के लगभग सभी लोगों की सामाजिक व्यवस्था के तीक्ष्ण और हृदय विदारक अमानवीय कृत्यों के प्रति उदासीनता और चुप्पी में परिलक्षित होता है। मुस्लिम शासक हिंदुओं में सती-प्रथा को लेकर कभी-कभी चिंतित दिखाई देते हैं, पर इसको लेकर कबीर जैसे धार्मिक अंधविश्वास के विरोधी के कान पर जूं नहीं रेंगती। इसके लिए कबीर को नहीं कोसा जा सकता, क्योंकि 15वीं और 16वीं शताब्दी और उसके बाद भी हिंदुओं की चिंतन परंपरा प्रायः तर्कशास्त्र तक सीमित थी (निस्संदेह प्राचीन ग्रंथों पर अनेक टीकाएं लिखी गईं पर वे टीकाएं थीं न कि मौलिक ग्रंथ)। उधर इस्लाम में भी मौलिक चिंतन का 13वीं शताब्दी के बाद प्रायः सर्वत्र अकाल है, जिसका भारत भी अपवाद नहीं है। कुल मिलाकर कबीर को मौलिक या क्रांतिकारी विचारक नहीं कहा जा सकता, पर उनके व्यक्तिगत फक्कड़पन में क्रांति-बीज दो धार्मिक संस्कृतियों के मध्य तटस्थ और संभाव्य रूप में अनिर्देशित गतिशीलता में निहित है, परंतु जो निर्गुण भक्ति के कुहासे और पाले में पुष्पित और पल्लवित तो छोड़, थोड़ा-बहुत अंकुरित भी नहीं हो सकता।

भारत में प्राचीन काल से ही वैचारिक सहिष्णुता और मतभेद के लिए स्थान रहा है, परंतु चाहे वे विचार वेद-सम्मत हों या वेद-विरुद्ध, वे परिवर्तन या क्रांति के पोषक नहीं हो सकते। भारतीय दर्शन की मुख्य धारा चिंतन या कर्म में एक मौलिक और निष्प्रयोजन गतिशीलता को परिलक्षित नहीं करती, जो यद्यपि ऋग्वेद के नासदीय सूक्त में दिखाई देती है। इस मुख्य धारा से हटकर या तो कुछ सोचा ही नहीं गया या सोचा भी गया तो उसको सुव्यवस्थित उदासीनता या सेंसरशिप द्वारा मुख्य धारा में सम्मिलित नहीं होने दिया गया। निष्प्रयोजनता और विशुद्ध परिवर्तन के संदर्भ में नए सिद्धांत या सप्तभंगी स्यादवाद क्रांतिकारी विचार से भी दो कदम आगे विशुद्ध परिवर्तनशीलता की ओर इंगित करता है, परंतु इसको एक प्रकार के बौद्धिक व्यायाम तक ही सीमित रखा गया। सामाजिक परिवर्तन के संदर्भ में भारत की वैचारिक सहिष्णुता और स्वतंत्रता निष्प्राण और दिखावटी प्रतीत होती है। इन्हीं कारणों से कबीर जैसे स्वतंत्र और फक्कड़ व्यक्तित्व में भी विरोध का स्वर सतही लगता है। कबीर की तुलना एक ऐसे कैदी से की जा सकती है, जो किसी शिकायत को लेकर जेल के भीतर उपद्रव कर देता है, पर अधिकारियों द्वारा समझाने-बुझाने के बाद वापस बैरक में लौट जाता है। वह जेल तोड़कर भागे चारवाक के समकक्ष नहीं हैं, जिसके लिए प्राचीन दार्शनिक साहित्य में गालियों के सिवा कुछ नहीं मिलता, जो कि अन्यथा

सूत्र, स्मृतियों, पुराणों, विभिन्न पिटकों और आगमों से भरा पड़ा है। भारत के प्राचीन दार्शनिक चिंतन का उद्देश्य अपेक्षाकृत गतिहीन यथार्थ और उसके ज्ञान को विशद रूप से वर्गीकृत करना है, जो गतिशील और सर्वतोमुखी चिंतन के विपरीत है।

स्वतंत्र चिंतन को कुठित और मरणासन्न करने में गुरु-शिष्य परंपरा का भी हाथ रहा है, जिसके कबीर और अन्य भक्तिभारगी पक्के अनुयायी थे। इस परंपरा के अधीन सत्य के ज्ञान की कुंजी किसी व्यक्ति विशेष या व्यवस्था को सौंप दी गई, जिस पर कालांतर में उसका पूर्ण एकाधिकार हो गया। जहां एक ओर भक्ति आंदोलन द्वारा गरीब और अशिक्षित जनता के लिए धार्मिक और आध्यात्मिक अनुभूति के द्वार खोल दिए गए, वहीं दूसरी ओर गुरु-शिष्य परंपरा को उसी आंदोलन ने सबल बनाया जो आवश्यकतानुसार कभी भी इन द्वारों को खोल या बंद कर सकती थी। इस गुरु-शिष्य परंपरा के कुप्रभाव भारतीय संस्कृति में सर्वत्र दिखाई देते हैं, जिसका एक नमूना भारत के शास्त्रीय नृत्य और संगीत का शताब्दियों से अपेक्षाकृत गतिहीन बने रहना है। क्या कथक या भरतनाट्यम के नृत्य की भांगिमाओं का विकास आधुनिक युग के संदर्भ में नहीं किया जा सकता? क्या शास्त्रीय संगीत में बदलाव की संभावनाएं नहीं हैं?

यहां मेरा उद्देश्य कबीर या अन्य किसी व्यक्ति विशेष की असफलताओं का उल्लेख करना नहीं है, क्योंकि क्रांतिकारिता और परिवर्तनशीलता का तत्व कबीर के व्यक्तित्व में निहित है, परंतु यदि यह विकसित नहीं हुआ अथवा कालांतर में इससे एक क्रांतिकारी या परिवर्तनशील परंपरा का सूत्रपात नहीं हुआ, तो यह संपूर्ण भारतीय वैचारिक संस्कृति की असफलता है, जिसका भागीदार इस्लाम भी रहा।

क्रांति का विचार मूलतः नियतिवादी है जिसकी इंद्रियातीत वास्तविकता चाहे कुछ भी हो, परंतु ऐंद्रिक या भाव पक्ष की दृष्टि से इसे मनुष्यों के विचार या कर्म को उद्देष्टित करने में सक्षम होना चाहिए। इसे क्रांति का संज्ञेय नियतिवाद कहा जा सकता है, जो इस्लाम के भी मूल विश्व-दृष्टिकोण का एक भाग है, सिवाय इसके कि 13वीं शताब्दी के बाद त इस्लामी चिंतन प्रायः मरणासन्न रहा है, जिसके कारण वर्तमान में एक सामाजिक-धार्मिक आंदोलन के रूप में यह एक सर्वतोमुखी क्रांतिकारी और गतिशील वैचारिकता को दिशा-निर्देश देने में असफल है। क्रांतिकारी विचार की मुख्य कमजोरी जो आधुनिक इतिहास में स्पष्टतः रेखांकित की जा सकती है, यह है कि इसका संज्ञेय नियतिवाद रूढ़िवादिता और कालांतर में एक मूर्खतापूर्ण प्रतिक्रियावाद को जन्म देता है। जब क्रांतिकारी विचार का प्रतिपादन धार्मिक या रहस्यवादी प्रतीकों के माध्यम से हो, तो उसमें प्रतिक्रियावादी शक्तियों का उभरना और आसान हो जाता है, यद्यपि आरंभ में ये शक्तियां सुषुप्त या अदृश्य रहती हैं। यदि क्रांति का संज्ञेय नियतिवाद यथार्थ की विसंगतियों के प्रति अधिक सजग है, तो संभव है कि वह प्रतिक्रियावादी पागलपन का शिकार न हो, परंतु उस हालत में क्रांति के भाव पक्ष के निष्प्राण होने का खतरा है। अतः प्रत्येक क्रांतिकारी विचार को, इस संज्ञेय नियतिवाद की समस्या को किसी-न-किसी रूप में भूलना पड़ता है। ऐसा प्रतीत होता है कि अंत में क्रांतिकारी विचार की प्रतिक्रियावादी शक्तियों के हाथों से पराजय सुनिश्चित है। रूसो यदि क्रांतिकारी विचार के प्रतिपादक हैं तो फ्रांसीसी क्रांति को एक सोद्देश्य मानवीय इच्छा-शक्ति का कर्मफल माना जा सकता है और तदनुसार नेपोलियन के यूरोपीय साम्राज्य को भी उसी क्रांति का श्मशान माना जा सकता है। सोवियत संघ के इतिहास में भी क्रांतिकारी विचार का इसी प्रकार का जीवन-वृत्त दिखाई देता है।

कबीर का काल-निर्धारण कठिन है। शायद वह सिकंदर लोदी के शासन-काल में जीवित थे। फ्रांस में फांस्वा रैबले का जन्म संभवतः 1495 में हुआ और मृत्यु 1553 में। कुछ जबर्दस्ती कर मैंने लेख के शीर्षक के संदर्भ में कबीर और रैबले को समसामयिक बना दिया है, पर शायद कबीर रैबले से कुछ समय पूर्व रहे होंगे।

रैबले को किसी साहित्यिक विधा के अंतर्गत वर्गीकृत करना कठिन होगा, जो कि मेरे विचार में साहित्यिक कला की दृष्टि से उनकी एक महत्वपूर्ण विशेषता है। कबीर के मुकाबले उन्हें सामाजिक बहिष्कार अपेक्षाकृत कम ही झेलना पड़ा, और उनकी कृतियों को भी बहुत अधिक संसर नहीं किया गया। संभवतः इसका एक कारण रैबले के कृतित्व में 'संज्ञेय नियतिवाद' का अभाव है, जिसके कारण रैबले स्पष्टतः किसी विकल्प का प्रतिपादन नहीं करते अर्थात् उनमें 'ट्रांसिडेंस' या इंद्रियातीत परिकल्पना के लिए कोई स्थान नहीं है।

रैबले की मुख्य कृति *गैरगेंतुआ और पेंताग्रुएल के इतिहास* 1532 और 1534 के मध्य प्रकाशित हुई। रैबले की गहनतम व्याख्या रूसी विद्वान मिखाइल बख्तीन द्वारा की गई है, जिसके बिना अभी रैबले के कृतित्व की चर्चा करना असंभव है। बख्तीन का रैबले संबंधी मूल लेख 1940 के लगभग रूसी भाषा में प्रकाशित हुआ था, जिसका शायद अभी अनुवाद नहीं हुआ है। उसी लेख पर आधारित बख्तीन की पुस्तक *रूसी में फांस्वा रैबले का कृतित्व और मध्ययुगीन लोक संस्कृति* 1965 में प्रकाशित हुई और जिसका अंग्रेजी अनुवाद 1968 में अमेरिका से प्रकाशित हुआ। बख्तीन की मृत्यु 1975 में हुई।

बख्तीन एक प्रकार की आकस्मिक, अंतर-व्यक्तिगत अथवा संवाद पर आधारित ऐतिहासिकता का प्रतिपादन करते हैं, जिसमें ऐतिहासिक या सामाजिक मूर्त प्रसंग इस प्रकार के अंतर-व्यक्तिगत भाषा व्यापार के अंतर्गत निरंतर शब्दों और अर्थों का फेरबदल करता रहता है और जिसे दिशा निर्देशित नहीं किया जा सकता। इस यथार्थ की इस अंतर-व्यक्तिगत संवाद के गत्यात्मक एवं विभिन्न परिप्रेक्ष्यों के परे कोई परिकल्पना नहीं की जा सकती।

बख्तीन द्वारा रैबले के मूल्यांकन में यद्यपि अनेक विसंगतियां हैं, पर आधुनिक आलोचकों द्वारा भी उनका समाधान नहीं किया गया है। मेरे विचार से बख्तीन द्वारा संभवतः कुछ अनावश्यक रूप से रैबले को मध्ययुगीन या पुनर्जागरण काल के यूरोप की लोक-संस्कृति की एक विशिष्ट अभिव्यक्ति लोकोत्सव (कार्निवाल) द्वारा प्रभावित होने की बात कही गई है। बख्तीन को लगता है कि मध्ययुगीन और पुनर्जागरण काल के यूरोप के युगों में मध्य वर्ग, पवित्र रोमन साम्राज्य और रोमन कैथोलिक चर्च मनुष्य की भाषा को एक कृत्रिम और पूर्व-निर्देशित ढांचे में रखना चाहते हैं।

हम भारतीयों के लिए यह समझना थोड़ा कठिन हो सकता है कि जिसे हम जनसंस्कृति कहते हैं, उसका विशुद्ध या नैसर्गिक स्वरूप हमें ऐसे सामाजिक समुदायों में उपलब्ध नहीं हो सकता, जहां अत्यधिक प्राचीन सभ्यताओं का प्रभाव-क्षेत्र या प्रभुत्व आधुनिक युग तक किसी-न-किसी रूप में अक्षुण्ण रहा है। इस दृष्टि से भारत और चीन जैसे देश एक 'नैसर्गिक' जनसंस्कृति से बहुत सीमा तक विहीन रहेंगे, क्योंकि इन भूखंडों में कांस्य-युग का सूत्रपात हजारों वर्ष पूर्व हुआ और मूलभूत रूप में उस समय की 'सभ्यता' अभी भी बनी हुई है। अतः कहने की आवश्यकता नहीं कि सभ्यतापूर्व आदिम समाज की नैसर्गिक ताजगी हमारे जैसे समाजों में अब प्रायः समाप्त हो गई है। पर यह बात यूरोप पर लागू नहीं होती, जहां कि कांस्य-युग की सभ्यता का प्रभुत्व या प्रभाव निरंतर नहीं बना रहा और विशेषकर उत्तरी और पश्चिमी

यूरोप में पूर्व-कांस्ययुगीन आदिम समुदायों की सामाजिक और सांस्कृतिक संरचनाएं आंशिक रूपों में पुनर्जागरण के बाद तक बरकरार रहीं। 'जनसंस्कृति की नैसर्गिक ताजगी' का यह अभिप्राय नहीं है कि आदिम समाज में कायदे-कानून नहीं थे और सब कुछ मनमाना था; इसके विपरीत 18वीं शताब्दी में वाइको ने 'आदिम रूपवाद' का विचार रखा, जिसके अनुसार आदिम संस्कृति में मनुष्य के समान आचार-विचार बहुत कड़े रूप में परिभाषित होते थे। इस पहेली का हल संभवतः यह है कि रूसो और जर्मन रोमांटिक कांस्ययुगीन संक्रमण काल के यूरोपीय संस्करण से प्रभावित रहे, जिस समय 'आदिम रूपवाद' कमजोर हो रहा था, लेकिन कांस्ययुगीन सभ्यता का तंत्र पूरी तरह स्थापित नहीं हो पाया, जिसके कारण मनुष्य की स्वतंत्र विचरण करने वाली चिंतन प्रवृत्तियों का इतिहास में पहली बार प्रादुर्भाव हुआ। इस संदर्भ में मध्ययुगीन यूरोप की लोकोत्सव परंपरा का विशेषकर यूरोप में विद्यमान होना यह दर्शाता है कि एशिया के मुकाबले यूरोप में कांस्ययुगीन सभ्यता-तंत्र की पकड़ अपेक्षाकृत कमजोर थी, जिसके कारण अंततः यूरोप में ही व्यक्ति स्वातंत्र्य के विचार का जन्म हुआ। विश्व के दूसरे भागों में—जैसे मिस्र और मेसोपोटामिया में—कांस्ययुगीन संक्रमण काल में नवीन चिंतन प्रणालियों का उपयोग अपेक्षाकृत शक्तिशाली सभ्यता-तंत्र के कारण मूलतः उत्पादन तकनीकों के आविष्कार या सुधार में हुआ अथवा वैसी विचारधाराओं को मजबूत करने में हुआ, जो नवोदित सभ्यता-तंत्र को और अधिक शक्तिशाली बनाने में सहायक हों।

भारत और चीन में कांस्ययुगीन चिंतन-धारा किसी-न-किसी रूप में रहस्यवाद की ओर उन्मुख रहीं, जिसका उपयोग विज्ञान या तकनीकी प्रगति के लिए नहीं किया जा सकता था और उसकी सीधे रूप में सभ्यता-तंत्र के लिए भी कोई उपयोगिता परिलक्षित नहीं होती थी। भारत में उत्तर-ऋग्वेद काल में सभ्यता तंत्र की पकड़ मजबूत करने के लिए पौरौहित्य और धार्मिक कर्मकांड का सहारा लिया गया, जिसे अधिकांशतः आदिम रूपवादी संस्थाओं से उधार लिया गया था और जिस कारण उसमें स्वतंत्र परंपरा का सर्वथा अभाव था। उधर चीन में ताओ-रहस्यवाद का मुकाबला कन्फ्यूशियस के सामाजिक परंपरावाद द्वारा किया गया, जिसमें एक विशिष्ट प्रकार की व्यावहारिक बौद्धिकता परिलक्षित होती है, जिसे सभ्यता-तंत्र को मजबूत करने के लिए आवश्यक समझा गया। भारत में स्वतंत्र चिंतन के शत्रु रहस्यवाद और धार्मिक कर्मकांड रहे हैं, पर जहां यूनान और रोम में रहस्यवाद और कर्मकांड को शक्तिशाली चिंतन प्रणालियों द्वारा पोषित नहीं किया गया और जिसके कारण कालांतर में ईसाई धर्म को अभूतपूर्व सफलता मिली, वहीं दूसरी ओर भारत में दुर्भाग्यवश उत्तर-ऋग्वेद काल में बौद्धिक वैचारिकता का दुरुपयोग सभ्यता-तंत्र को पौरौहित्य और कर्मकांड द्वारा मजबूत करने के लिए किया गया। इसका निराकरण रहस्यवाद नहीं हो सकता था, जिस कारण समस्त भक्ति आंदोलन की सामाजिक प्रासंगिकता पर प्रश्नचिह्न लग जाता है।

इसी प्रकार की रहस्यवादी प्रवृत्ति कबीर में क्रांतिकारी तत्व को कुंठित करती है। बख्तीन के 'कार्निवाल' में क्रांतिकारी या व्यवस्था-विरोधी तत्व हो सकते हैं, पर रैबले की मुख्य कृति *गैरगेंतुआ और पेंतायुएल के इतिहास* के संदर्भ में शायद यह कहना उचित नहीं होगा। मेरे विचार से लोकोत्सव एक ऐसी परंपरा है, जो यूरोप की कांस्ययुगीन संक्रमण काल की स्वतंत्र वैचारिकता की अत्यधिक प्रारंभिक और निम्नस्तरीय अभिव्यक्ति है और क्योंकि इसका निम्नस्तरीय विश्व-दृष्टिकोण इसे वैचारिकता से दूर ले जाता है, अतः इस कारण इसका क्रांतिकारी या व्यवस्था-विरोधी संदर्भ संभवतः उतना वास्तविक नहीं है। 'लोकोत्सव' के कुछ तत्व गैर-यूरोपीय जनसंस्कृतियों या रीति-रिवाजों में भी देखने को मिलते हैं (जैसे हमारे यहां

जीजा-साली के मजाक द्वारा यौन-संबंधों की सामाजिक नियंत्रण प्रणाली में ढील दिया जाना अथवा विवाहों में कन्या-पक्ष के लोगों द्वारा वर-पक्ष के लोगों को गाली देना अपेक्षाकृत मजबूत वर-पक्ष के विरुद्ध कमजोर कन्या-पक्ष को 'बराबरी' देने का प्रयत्न माना जा सकता है), पर इनमें विद्रोह या क्रांति के स्वर खोजना बेकार है जो बिना व्यक्तिगत वैचारिकता के संभव नहीं और जो कि निम्नस्तरीय लोकोत्सव परंपरा में नहीं हो सकते। 'लोकोत्सव' या इससे मिलती-जुलती संस्थाएं या परंपराएं प्राकृतिक घटनाओं या तकनीकी उपलब्धियों की तरह तटस्थ हैं, जिसके कारण इनका उपयोग समयानुसार समाज के किसी भी वर्ग द्वारा अपने हित में या दूसरे वर्ग के अहित के लिए किया जा सकता है।

अंततः रैबले के कृतित्व का मूल्यांकन जनसंस्कृति की नैसर्गिकता या ताजगी के संदर्भ में नहीं किया जा सकता। इसके विरुद्ध विद्वृषित यथार्थ जो जनसंस्कृति में परिलक्षित हो सकता है, वह सामाजिक शक्ति संरचना के संदर्भ में निम्नस्तरीय तो है, पर अपरिभाषित या निस्सीम नहीं। रैबले की विद्वृषता का मूल तत्व उसके निस्सीम अतिक्रमण में है, जिसका आधार जनसांस्कृतिक विचारहीनता में नहीं, अपितु समकालीन ऐतिहासिक परिस्थिति के संदर्भ में ज्ञान के संरचनाहीन निस्सीम अतिक्रमण में है। कुछ अंशों में रैबले यूरोपीय जनसंस्कृति या रोमन व्यंग्यकार लूसियन से प्रभावित हो सकते हैं, पर रैबले का निस्सीम ज्ञानवादी अतिक्रमण जो स्वतंत्र चिंतन पर आधारित होते हुए भी स्वयं चिंतन का अतिक्रमण है, वह लूसियन या सर्वातीस से एकदम भिन्न है। सतही तौर पर ज्ञान एवं चिंतन का यह अतिक्रमण कुछ लोगों को रैबले को उत्तर-आधुनिकतावाद का जनक मानने के लिए उत्प्रेरित कर सकता है, पर विशुद्ध रूप से उन्हें स्वयं चिंतन का अतिक्रमणकारी होने के नाते उत्तर-आधुनिकतावादी भी करार नहीं दिया जा सकता। एक दूसरा मुख्य अंतर रैबले और उत्तर-आधुनिकतावादियों में यह है कि जहां रैबले का विश्व-दृष्टिकोण 16वीं शताब्दी तक उपलब्ध विविध क्षेत्रों में मानवीय ज्ञान की उपलब्धियों से परिसीमित है, वहीं फ्रांस या जर्मनी के उत्तर-आधुनिकतावादी संरचनावादी (लेवी स्ट्राउस को छोड़कर) और उत्तर-संरचनावादी मूलतः यूरोप के सांस्कृतिक परिदृश्य में बंधे हुए हैं, जिसके बाहर उन्हें शायद देखने की हिम्मत नहीं होती। इसका एक खराब नमूना फूको हैं, जो फ्रांस से भी बाहर झांक कर नहीं देखते। यूरोप से बाहर के अध्ययन का काम विशेषज्ञों को सौंपा गया है, विचारकों को नहीं, यद्यपि मैक्समूलर, गोल्डत्सिहर या लूई मैसियों अपनी सीमाओं में बंधे रहने के बावजूद कुछ हद तक विचारक भी थे। इस प्रकार की वैचारिक कूपमंडूकता पुनर्जागरण काल के यूरोप और विशेषकर जर्मन रोमांटिकों में दिखाई नहीं देती, जहां कि विचारक और विशेषज्ञ में कोई भेद नहीं किया जा सकता था। रैबले इसी पुनर्जागरण परंपरा को अपनी पराकाष्ठा तक ले जाते हैं, जहां ज्ञान विभागीकृत तो है, पर जहां उसके परिप्रेक्ष्य को नकार दिया गया है। इसका एक छोटा-सा नमूना उद्धृत करना चाहूंगा, जिसके द्वारा प्रासंगिकता, साहित्यिक विधा और ज्ञान के परिप्रेक्ष्य का अतिक्रमण परिलक्षित होता है। यह अवतरण गैरगेंतुआ की प्रथम पुस्तक के 44वें अध्याय से लिया गया है, जहां गैरगेंतुआ के साधु-मित्र द्वारा शत्रु की कैद से भागकर निकलते समय दो पहरेदारों को मार गिरा देने का वर्णन है और जिसमें रैबले प्रसंगहीन ढंग से अपने मानव शरीर क्रिया के ज्ञान की डींग हांकते मालूम होते हैं :

'इस पर फौरन ही उसने उपरोक्त तलवार खींची और उससे दाहिनी ओर पहरा देने वाले धनुर्धारी की गर्दन की मातुका शिराओं (जुग्युलर वेंस) और 'स्कैजिटिड' धमनियों के साथ-साथ 'उब्युला' या प्रतिजिह्वा तक की ग्रंथियों को काटते हुए प्रहार किया और जब उसने तलवार

को वापस खींचा तो उसने दूसरे और तीसरे क्लोसकी (वर्टीब्रे) की मेरुदंडीय मज्जा को फाड़ दिया जिसके बाद धनुर्धारी मरकर गिर पड़ा।”

दूसरे पहरेदार ने अपने साथी की दुर्गत देखकर बड़ी खुशामद की, पर सब बेकार, जिसका परिणाम रैबले की वैज्ञानिक शब्दावली में यह रहा :

‘तब उसने एक ही प्रहार में उसकी खोपड़ी की फांक कर दी जिस क्रम में उसकी खोपड़ी की कनपट्टी की हड्डी और दो पार्श्वकपालिक हड्डियाँ और प्राचीर सीवन और अग्रणी हड्डी के अधिकांश भाग काटकर अलग कर दिए और ऐसा करते हुए उसने दो झिल्लियों को काटकर मस्तिष्क की पश्च पालियों (या पोस्टीरियर लोब्स) में गहरा छेद कर दिया। इस प्रकार उसके कंधों पर उसका कपाल या ‘क्रोनियम’ कपालावरण या ‘पैरिक्रेनियम’ की खाल के सहारे चिकित्सक की टोपी की तरह पीछे झूलता रह गया जो कि बाहर से काला और अंदर से लाल था और इस तरह वह भूमि पर मरकर गिर पड़ा।’

यह शब्दावली निश्चय ही किसी अंत्य-परीक्षण के लिए अधिक प्रासंगिक है, न कि साहित्य के लिए अथवा बख्तीन के संवाद-परिप्रेक्ष्य के लिए। इसी प्रकार मलत्याग के उपरांत गुदा साफ करने हेतु विभिन्न माध्यमों की एक सूची जो कई पृष्ठों में है, उसमें भी परिप्रेक्ष्य और व्यंग्य दोनों का ही अतिक्रमण है। पुस्तक के अश्लील अंश कहीं भी कामुकता को नहीं जगाते और अनेक अन्य प्रसंग जिन्हें व्यंग्यात्मक माना जा सकता था, वे व्यंग्य या हास्य को साधारणतः ‘सीधे रूप में’ जन्म नहीं देते। इसके विपरीत जनसंस्कृति परिप्रेक्ष्य-विहीन नहीं हो सकती और न ही वह अपने सांस्कृतिक व्यापार में मनोभावों को एक प्रसंगहीन शून्यत्व की ओर ले जाती है, यद्यपि यह संभव है कि जनसंस्कृति की निम्नतर कोटि का—जो कि संभवतः मध्ययुगीन और पुनर्जागरण काल के यूरोप में विद्यमान थी—लोकोत्सव परंपरा के माध्यम से रैबले के घोर अतिक्रमणात्मक लेखन के साथ कुछ साम्य दिखाई दे। इसके विपरीत कबीर की लोकसांस्कृतिक परंपरा सभ्यता के क्लासिकी मूल्यों के बहुत नजदीक है या उनके द्वारा कड़े रूप में परिभाषित है। कबीर के संदर्भ में मुंडन संस्कार और भेड़ों के मुंडने की समानता अथवा मंडक और मनुष्यों के एक ही प्रकार के गंगास्नान का व्यंग्यात्मक पक्ष धर्म और क्लासिकी सभ्यता के संदर्भ में तीक्ष्ण है, पर किसी भद्र मनुष्य का केले के छिलके से फिसलकर कीचड़ में गिर जाना भी व्यंग्य को तो नहीं, पर विशेषकर बालसुलभ हास्य को जन्म दे सकता है, पर जिसका कोई सभ्यतामूलक और यहां तक कि ‘निम्न’ जनसांस्कृतिक पक्ष सामने नहीं आता।

‘केले के छिलके से फिसलना’ अपने आप में नैसर्गिक और तटस्थ घटना है और इससे उद्भूत हास्य का संबंध साधारणतः मनुष्यों की सार्वभौमिक शरीर क्रिया प्रणाली पर आधारित है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि इस प्रकार की तटस्थ घटनाओं का प्रयोग व्यंग्य या सांस्कृतिक रूप से परिभाषित हास्य के लिए नहीं किया जा सकता। (वास्तव में नज़ीर अकबराबादी ने बरसात में कीचड़ में गिरने को गरीब की दुर्गत का प्रतीक बनाया है, जब कि अमीर हाथी पर बैठकर कीचड़ भरे मार्ग से शान से गुजरते हैं।) रैबले की विशेषता हास्य और व्यंग्य को एक साकार और विभागीकृत ज्ञान के विसंगत, निराकार, परिप्रेक्ष्यहीन एवं जनसंस्कृति-विहीन प्रस्तुतीकरण के माध्यम से भावशून्यत्व की ओर ले जाना है, जिसका मूल मंत्र ज्ञान और संस्कृतिमूलक सभी विधानों का अतिक्रमण है। पर यह शून्यत्व निराकार ब्रह्म के समकक्ष नहीं है; इस शून्यत्व का महत्व दिक्काल के उस निस्सीम स्वरूप को दर्शाना है, जिसके द्वारा मनुष्य की स्वतंत्र विचार प्रक्रिया और रचनात्मकता का कोई भी परिसीमन नहीं किया जा सकता। इस संदर्भ में मध्ययुगीन यूरोपीय जनसंस्कृति के लिए यह कहा जा सकता है कि यह भी

अपने आदिम या निम्नस्वरूप के कारण एक शरीर-क्रियात्मक सार्वभौमिकता के निकटस्थ है, जिसकी तुलना में क्लासिकी सभ्यता के मूल्य परिसीमित और कृत्रिम प्रतीत होते हैं। मध्ययुगीन यूरोप की इस अपरिष्कृत जनचेतना की शरीर-क्रियात्मक सार्वभौमिकता का एक निस्सीम पक्ष भी है, जो अनजाने में ही स्वतंत्र वैचारिकता की क्रीड़ा हेतु अपरिमित दिशा और स्थान उपलब्ध कराता है। इस दृष्टि से रैबले के व्यंग्य का वह दार्शनिक महत्व नहीं है, जो कि उसके विशुद्ध एवं निस्सीम हास्य का है, जिसके द्वारा किसी भी ज्ञान या सभ्यतामूलक संरचना को एक अनंत ब्रह्मांडीय गर्त में फेंक दिया जा सकता है और जिसका प्रतिफल सतत परंतु विसंगत गतिशीलता में निहित है। उधर कबीर की सभ्यतामूलक जकड़ इतनी मजबूत है कि वे इस विसंगत गतिशीलता को जन्म नहीं दे सकते और यहां तक कि अपेक्षाकृत अधिक सीमित क्रांतिकारी विचार का बीज भी सभ्यतामूलक रहस्यवादी जलवायु में अंकुरित नहीं हो सकता। दुर्भाग्यवश भारत में दार्शनिक स्तर पर निस्सीम और निराकार, ब्रह्म और शून्यत्व और उसके सगुण और निर्गुण पक्षों का सूक्ष्मतरंग स्तर पर मनन किया गया और यहां तक कि विशेषकर जैन दर्शन में ज्ञान और विचार की पूर्ण सापेक्षता का प्रतिपादन किया गया, पर क्योंकि इस दार्शनिक चिंतन की सामाजिक संरचनाओं में निर्भीक और स्वतंत्र पैठ नहीं थी, अतः यह सब कुछ क्रांतिकारी या विशुद्ध परिवर्तन के विचार को जन्म नहीं दे सका।

रैबले का निस्सीम दृष्टिकोण एक सीमा तक मानव शरीर और उसकी नैसर्गिक क्रियाओं पर आधारित है। उनके निस्सीम दृष्टिकोण का दूसरा आधार उनके ‘वर्गीकृत’ ज्ञान का ‘फेरागो’ या बेमेल खिचड़ी होना है जिसकी पहचान उसकी कलात्मक अप्रासंगिकता से होती है। तीसरा आधार जो शायद अपेक्षाकृत कम महत्व रखता है, पर जिस पर बख्तीन अधिक जोर देते हैं, वह है मध्ययुगीन और पुनर्जागरण यूरोप की जनसांस्कृतिक लोकोत्सव परंपरा। मेरे विचार में इन तीनों आधारों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण ‘फेरागो’ है, पर अधिक स्थूल और मूर्त स्तर पर मानव शरीर का अपना एक अलग महत्व है। वास्तव में शरीर और निम्नस्तरीय जनसंस्कृति के आधार को मिले-जुले रूप में भी प्रस्तुत किया जा सकता है।

शारीरिक कार्यकलापों को विशुद्ध परिवर्तन के प्रतीक के रूप में लिया जा सकता है और यदि इसकी तुलना सामाजिक शक्ति-संरचना के संदर्भ में की जाए, तो कहा जा सकता है कि सामाजिक मूल्यों की दृष्टि में एक ‘विद्रूपित’ प्रस्तुतीकरण के माध्यम से कुछ सामाजिक वर्गों के ऊपर से नीचे आने और कुछ नीचे से ऊपर जाने को शारीरिक क्रियाओं के प्रतीकों से प्रस्तुत किया जा सकता है। यदि शरीर और उसकी क्रियाओं के विशुद्ध और निस्सीम पक्ष को सामने रखें तो संभवतः कहा जा सकता है कि शारीरिक अंग, शरीर के विभिन्न उभार और छिद्रों द्वारा अंतर-शारीरिक और शरीर-तरंग जगत से तादात्म्य एवं व्यापार स्थापित किया जा सकता है, जो शारीरिक सीमाओं का जगत में उभारों द्वारा विस्तार करता है, वहीं शारीरिक छिद्रों द्वारा जगत का शरीर में विस्तार करता है। इस तादात्म्य और व्यापार के माध्यम भोजन, संभोग और विशेषकर मल-मूत्र हैं, यद्यपि इस संदर्भ में रैबले ने शारीरिक जन्म या मृत्यु के प्रति कोई विशेष आग्रह नहीं दिखाया है। पेंतागुएल के जन्म का उसकी माता के कान से होना अपने आप में शारीरिक जन्म के विद्रूपीकरण का एक अच्छा उदाहरण है। इसी प्रकार शारीरिक क्रियाओं या उत्पादनों में वीर्य-स्खलन या शिशु-जन्म का उतना महत्व नहीं है, जितना कि अत्यधिक भोजन करने और कभी-कभी ‘ट्राइप’ जैसे निकृष्ट भोजन करने का और तदनुसार विशाल परिमाण में मल-त्याग करने का। जोनाथन स्विफ्ट ने गुलिवर द्वारा अपने मूत्र से महल की आग बुझाने का वर्णन किया है,

जो कि निश्चय ही लोकमंगलकारी कार्य है, पर रैबले का पेंताग्रुएल नॉटर डैम के गिरजाघर पर चढ़कर पेशाब करना शुरू करता है, तो सारे पेरिस में बाढ़ आ जाती है, जो कि 'मूर्ख' पेरिसवासियों को दंडित करने का एक नायाब तरीका है। इस प्रकार रैबले का शरीर क्रियात्मक दृष्टिकोण किसी भी व्यवस्थामूलक सांस्कृतिक उदात्तीकरण के प्रति एक विसंगठनात्मक प्रतिरोध से परिपूर्ण है, पर सामान्यतः उसका कटु या व्यंग्यात्मक स्वर विशुद्ध एवं निस्सीम हास्य से प्रचन्न रहता है, जो स्वयं हास्य का अतिक्रमण है, क्योंकि सीमित हास्य एवं व्यंग्य प्रासंगिक आकस्मिकता के अलावा सांस्कृतिक मूल्यों व प्रवृत्तियों द्वारा परिभाषित और सीमित रहता है।

रैबले की विद्वत्ता गैरगेंतुआ के मल-मूत्र की तरह प्रचुर, परंतु निकृष्ट है। उधर कबीर को अशिक्षित माना गया है, परंतु उन्हें हिंदू धर्म और दर्शन की गहन जानकारी थी (विशेषकर उसके गोरखपंथी स्वरूप द्वारा) जो उनके काव्य के विस्तृत रहस्यवादी बिंबों में प्रकट होती है। उनकी धार्मिक और दार्शनिक प्रतिबद्धता निर्गुण ब्रह्म के प्रति रहते हुए भी उनका रहस्यवादी चिंतन या उसकी काव्यात्मक अभिव्यक्ति भारत की सांस्कृतिक परंपरा द्वारा परिभाषित थी। उधर रैबले की प्रचुर और निकृष्ट 'फेरागो' विद्वत्ता मेलविल की तकनीकी या जॉयस की साहित्यिक विद्वत्ता से भिन्न है, क्योंकि इनमें साहित्यिक कला के लिए जो सजगता विद्यमान है, उसके द्वारा स्वयं साहित्यिक कला में परिवर्तन और उसके नवीन सीमांकन के प्रति आग्रह तो अवश्य परिलक्षित होता है, पर वह अपरिमित पर निकृष्ट फेरागो की रैबलेसीय शैली में स्वयं साहित्यिक कला या उसकी सौंदर्यनुभूति का अतिक्रमण नहीं है। रैबले का ज्ञान के प्रति जो परिभाषाहीन और उच्छृंखल भाव है, उसका परिष्कृत और नवीन परिवेश में सभ्यतामूलक निषेध 16वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में मौलिक के कृतित्व में परिलक्षित होता है, जिसमें विश्व की अज्ञेयता की ऐंद्रिक और वैज्ञानिक स्तर पर स्वीकारोक्ति तो है, पर जिसमें निस्सीम हास्य के लिए कोई स्थान नहीं है। रैबले के अतिक्रमण द्वारा किसी नई परिकल्पना की स्थापना नहीं की जा सकती, क्योंकि यह स्वयं में ज्ञान के 'फेरागो' तत्व द्वारा ज्ञान के प्रति विद्रोह है, जो मुंह-लटकाऊ विद्वत्ता की संस्कृति के मठाधीशों को बचकाना लग सकता है, पर जिसमें से विश्वविद्यालयों, उनके विभागों, डिग्रियों और सम्मानों के लिए खतरे की घंटी की एक आवाज आती है। पर शायद विशुद्ध अनंत की गैर-रहस्यवादी स्तर पर एकमात्र अभिव्यक्ति ऐसे ही रैबलेसीय बचकाने और बेमेल ज्ञान द्वारा संभव है।

अंततः यह कहा जा सकता है कि भारत और चीन जैसे देशों में कांस्ययुगीन सभ्यता के प्रादुर्भाव से कमोबेश वर्तमान तक सभ्यता-तंत्र की पकड़ बहुत मजबूत रही है, जिसके कारण जनसंस्कृति का स्वच्छंद और स्वतःस्फूर्त स्वरूप हमें यहां नहीं मिलता। यूरोप में सामी धार्मिक विचारधारा का आधिपत्य ईसाई धर्म के माध्यम से चौथी शताब्दी के बाद से आरंभ हुआ, पर बहुत लंबे समय तक उत्तर और पश्चिम यूरोप की आदिम जनजातियों को सभ्यता के दायरे में नहीं लाया जा सका। इस लंबे संक्रमण काल के कारण सभ्यता और आदिम प्रवृत्तियों के घनिष्ठ व्यापार के कारण विचार और भावना का एक अद्भुत सम्मिश्रण हो सका, जिसने अंततः यूरोप में वैचारिक स्वातंत्र्य को जन्म दिया और जो संभाव्य रूप से सभ्यतामूलक चिंतन प्रणाली से कभी भी मुक्त नहीं हो सका जिससे दार्शनिक चिंतन भी बुद्धि विलास की सामग्री मात्र बनकर रह गया। भारतीय दर्शन में यद्यपि क्रांतिकारी विचार दुर्लभ हैं जो सामी वैचारिक परंपरा में बीज रूप में विद्यमान हैं, परंतु उसमें ज्ञान की सापेक्षता या निरर्थकता और सबसे महत्वपूर्ण निराकार और निस्सीम का भाव एक बौद्धिक स्तर पर विद्यमान है जो ऐंद्रिक स्तर पर रैबलेसीय 'फेरागो' से मेल

खाता है। यह विकास, क्रांति और विशुद्ध परिवर्तन का निस्सीम क्षेत्र है, जिसका मूल मंत्र व्यक्ति के वैचारिक और रचनात्मक स्वातंत्र्य में है।

कबीर का क्रांतिकारी स्वर अधूरा और दबा हुआ है, जो दो धार्मिक संस्कृतियों के मध्य उलझा हुआ है और रहस्यवाद जिसका पीछा नहीं छोड़ता। क्रांतिकारी विचार का सूत्रपात इस्लाम द्वारा भारत में हो सकता था, पर 13वीं शताब्दी के बाद इस्लाम वैचारिक दृष्टि से मरणासन्न हो गया और जो मुस्लिम भारत में आए भी, उनमें अधिकांश भारत पर राजनीतिक आधिपत्य की समस्या में व्यस्त थे, तो दूसरी ओर सूफी लोग रहस्यवाद के शिकार थे। वैचारिकता के दृष्टिकोण से तो शायद भारत के मुसलमान हिंदुओं से भी गए-गुजरे थे, यद्यपि उन्हें शासक वर्ग का होने का पूरा घमंड था। यह आश्चर्य की बात है कि निराकार और निस्सीम पर गहन दार्शनिक विचारोपरांत भी भारत में विशुद्ध और संस्कृति-विहीन परिवर्तन के विचार ने जन्म नहीं लिया जिसका कारण भारत की जनसंस्कृति में आदिम स्वतःस्फूर्तता का अभाव था।

रैबले को मैं चिंतन के स्तर पर विशुद्ध परिवर्तनशीलता का प्रतीक मानता हूं, परंतु दो मूल तत्व जो भारतीय संस्कृति में छठी शताब्दी ई.पू. से विद्यमान हैं और जो रैबले या संभवतः किसी भी गैर-हिंदू विचारक ने प्रतिपादित नहीं किए, वे हैं—निस्सीम अहिंसा और जीव-दयावाद। निस्सीम अहिंसा से तात्पर्य है अहिंसा का भाव न केवल मनुष्यों के प्रति, अपितु पशु-पक्षियों, वनस्पतियों और समस्त सृष्टि के प्रति होना। रैबले यद्यपि मानवीय शरीर के प्रति एक स्वच्छंद दृष्टिकोण रखते हैं, पर वह मानवीय शरीरों का मानवेतर शरीरों से कोई तादात्म्य स्थापित नहीं कर पाते। यदि आज यूरोप में पाशविक अधिकारों की बात हो रही है, तो यह स्वयं यूरोप की विशुद्ध परिवर्तनशील चिंतनधारा का परिणाम है, जो कि अपनी संस्कृति-बद्ध चिंतनधारा का अतिक्रमण कर सकती है। □

प्रकाशन विभाग

द्वारा प्रकाशित सभी पुस्तकों व
पत्रिकाओं को प्राप्त करने का केंद्र

बुक गैलरी

प्रकाशन विभाग

पटियाला हाउस, नई दिल्ली

दिल्ली में हमारा बिक्री का अन्य केंद्र :

सुपर बाजार, कनाट प्लेस, नई दिल्ली

फोन : 3313308

एक अकिंचन व्यक्तित्व

नाटककार गोविंद वल्लभ पंत के व्यक्तित्व पर विष्णु प्रभाकर

गोविंद वल्लभ पंत—इस नाम का स्मरण आते ही जिस व्यक्ति का चित्र मन-पटल पर उभरता है, वह है भारत के राजनैतिक नभ-मंडल के देदीप्यमान नक्षत्र, स्वाधीनता संग्राम के निर्भीक और प्रखर योद्धा एवं बाद में भारत के स्वतंत्र होने पर पंडित जवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व में नाना मंत्रालयों का कार्यभार संभालने वाले प्रतिभाशाली मंत्री गोविंद वल्लभ पंत। उनके अंतर की थाह पाना बड़े से बड़े कूटनीतिज्ञ के लिए भी असंभव जैसा था।

लेकिन हम यहां जिन गोविंद वल्लभ पंत की चर्चा कर रहे हैं, वह स्वाधीनता संग्राम के सेनानी तो रहे हैं, पर देश की कूट राजनीति से उनका संबंध नहीं रहा है। वह एकांत रूप से साहित्य-साधना में रत रहे हैं।

उनको देखकर प्रथम दृष्टि में ऐसा लगता था कि किसी अन्य भू-मंडल का व्यक्ति राह भूलकर इधर भटक गया है। मुझे वह दिन और वह क्षण आज भी उसी दिन की तरह याद है, जब वह मेरी बड़ी बिटिया अनीता के लग्न-बंधन का निमंत्रण पत्र पाकर विवाह स्थल पर पधारे थे। लेकिन समय से काफी पहले आ गए थे, इसलिए पंडाल के भीतर न आकर बाहर ही घूमते रहे। कोई और व्यक्ति उनको पहचानता नहीं था। जब किसी काम से मैं बाहर गया तो उन्हें वहां एकाकी घूमते देखकर चकित रह गया। पास जाकर पूछा, “आप यहां क्या कर रहे हैं, भीतर क्यों नहीं आ गए! आइए ... आइए ...!”

अत्यंत विनम्र स्वर में कुछ हतप्रभ और कुछ अपराध बोध से पीड़ित वह बोले, “आपको बहुत-बहुत बधाई, विष्णु जी! बात यह हुई कि मैं सीधे दफ्तर से चला आ रहा हूं, घर जाकर आना बहुत कठिन हो जाता।”

मैंने उनकी पारदर्शी आंखों में झांककर देखा, मुस्कराया। कहा, “आना कठिन था, पर जाना तो मुश्किल नहीं होगा। आइए, अंदर बैठिए।”

बोले, “नहीं, नहीं, आप बहुत व्यस्त हैं। समारोह शुरू होने में देर है, माफी चाहता हूं। बिटिया के लिए अपनी एक पुस्तक लाया हूं। वह आशीर्वाद के रूप में मेरी ओर से उसे दे दीजिए।”

“आप रुकेंगे नहीं, मेरे लिए यह ...”

बीच ही में टोककर वह जाने को मुड़ते हुए बोले, “फिर आऊंगा किसी दिन, आज तो जाने दीजिए।” उन्होंने हाथ जोड़कर नमस्ते की और फिर धीरे-धीरे चलते चले गए। मैं न जाने किस

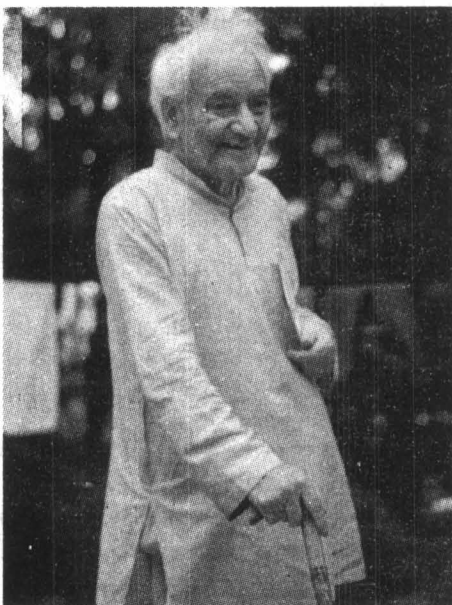
लोक में पहुंच गया था। ऐसे सरल, ऐसे अकिंचन प्राणी अभी शेष हैं इस युग में!

लंबी आयु पाई उन्होंने। सन् 1898 के श्रावण मास की सप्तमी को रानीखेत में उनका जन्म हुआ था। अल्मोड़ा में मैट्रिक पास करके वह आगे पढ़ने के लिए बनारस चले गए। बचपन में रामलीला देखने का बहुत शौक था। तब अनजाने ही मन के किसी कोने में नाट्य-कला की ओर रुझान हुआ, जिसने बनारस में आकर एक निश्चित आकार लेना शुरू कर दिया।

भारतेंदु की नगरी थी काशी। पंत जी जब वहां पहुंचे तो भारतेंदु तो वहां नहीं थे, परंतु उन्होंने नाटक लिखने और खेलने की जो परंपरा स्थापित कर दी थी, वह किसी न किसी रूप में वहां फल-फूल रही थी। पंत जी उससे प्रभावित हुए और उनके मन में जो अंकुर फूटने लगा था, उसे खिलने का अवसर यहीं मिला। यहां वह जयशंकर प्रसाद, राय कृष्णदास, पद्मसिंह शर्मा ‘कमलेश’ और रामदास गौड़ जैसे दिग्गजों के संपर्क में आए। इतने कुशल हो गए कि राय कृष्णदास जैसे कलाविद् ने उनके अभिनय से प्रसन्न होकर उन्हें मैडल प्रदान किया।

कला के प्रति पंत जी इतने समर्पित थे कि उस समय के रंगमंच के बादशाह माने जाने वाले नारायण प्रसाद ‘बेताब’ और ‘व्याकुल’ से मिलने के लिए क्रमशः कलकत्ता और मेरठ गए। यह सन् 1920 की बात है। इसी समय उन्होंने असहयोग आंदोलन से प्रभावित होकर अपनी पढ़ाई छोड़ दी थी। अपने नाटक

अधूरी मूर्ति में उनकी यह भावना प्रबल रूप में प्रकट हुई है। मूर्तिकार ‘मंजीत के शब्दों में, “मुल्क के दरवाजे पर जब दुश्मन आकर खड़ा हो जाता है तब कलाकार अपनी कला को, पंडित अपनी पूजा को, नमाजी अपनी इबादत को, किसान-व्यापारी बेईमानी को, साहूकार लालच को, प्रेमी अपनी प्रेयसी को त्याग एक हो जाते हैं। अपने देश की रक्षा करने में ऐसा करना ही पड़ता है।” स्वार्थी प्रवृत्ति पर कटाक्ष करते हुए एक पात्र रफीउद्दीन के माध्यम से उन्होंने जो कुछ कहा है, वह आज भी उतना ही सटीक है। रफीउद्दीन : “... कसूर हिंदू और मुसलमान का नहीं है। कसूर है खुदगर्जी का। अगर मुसलमानों का प्रेम, राजपूतों की कुर्बानी, मराठों की दिलेरी, सिक्खों का साहस, जाटों की जांबाजी, बुंदेलों की बहादुरी और पहाड़ियों की वफादारी एक होती तो दुनिया में किसी की मजाल नहीं थी कि हिंदुस्तान को टेढ़ी भौंहों से देख भी सकता। लेकिन तुम्हारे जैसे ...”



गोविंद वल्लभ पंत

और उन जैसों के लिए उन्होंने ओजपूर्ण स्वर में कहा ...

आ रही दुख की भरी आवाज हिंदुस्तान की,
लाज रखनी है हमें अब देश के सम्मान की।
तोड़ सरहद आ घुसे डाकू-लुटेरे मुल्क में,
है नहीं परवाह उनको धर्म की, ईमान की।
कौम के एहसान का बदला चुकाने के लिए
हर घड़ी आती नहीं ऐसी घड़ी बलिदान की।
आपसी मतभेद भूलो, एक हो जाओ सभी,
आन रखने को लगा दो आज बाजी जान की।
जाग उठ, हे हिमालय, सोए हुए ज्वालामुखी,
तोड़नी है आज तुझको चाल उस शैतान की।

इसी दौरान उन्होंने दानवीर कर्ण नाटक लिखा और उसे लेकर 'बेताब' के पास पहुंचे। 'बेताब' ने उन्हें 'व्याकुल' साहब के पास भेज दिया, क्योंकि उसी समय उन्होंने 'व्याकुल भारत' नाटक कंपनी की स्थापना की थी। पंत जी उसी में काम करने लगे। लिखते भी रहे और अभिनय भी करते रहे। नौ साल बाद सिनेमा का आकर्षण उन्हें बंबई ले गया। लेकिन वहां से निराश होकर वह कुमाऊं लौट आए और ताड़ीखेत में रहकर शिक्षण का काम करने लगे। साथ ही चरखा भी कातते रहे और नाटक लिखना भी निरंतर जारी रहा। उसी प्रसंग में वह उस समय के सुप्रसिद्ध नाट्य लेखक राधेश्याम कथावाचक के संपर्क में आए। साथ ही सुविख्यात मंच और सिने-अभिनेता पृथ्वीराज के 'पृथ्वी थियेटर्स' के लिए भी उन्होंने लिखा।

ताड़ीखेत में रहते हुए ही उन्होंने अपना मशहूर नाटक *राजमुकुट* लिखा, जो एक समय तो न जाने कितने विश्वविद्यालयों में पढ़ाया जाता रहा। यहां तक कि उनकी दूसरी उपलब्धियों को उसने एक धुंध से आवृत कर दिया।

उन्होंने 19 नाटकों की रचना की है जिनमें से *राजमुकुट* के अतिरिक्त *वरमाला*, *सुहाग बिंदी*, *अंगूर की बेटी* और *कोहिनूर का लुटेरा* आदि प्रमुख हैं। जिस समय वह नाटक लिख रहे थे उस समय जहां एक ओर पारसी रंगमंच के प्रसिद्ध लेखक राधेश्याम कथावाचक, 'बेताब' और 'व्याकुल' इस क्षेत्र में सक्रिय थे, वहीं दूसरी ओर जयशंकर प्रसाद, हरिकृष्ण प्रेमी, उदयशंकर भट्ट आदि इस कला को साहित्य के साथ जोड़ रहे थे। इन सबका प्रभाव पंत जी की नाट्य-कला पर पड़ना स्वाभाविक था, लेकिन उन्होंने उस प्रभाव को मात्र प्रेरणा के रूप में ग्रहण किया, उनका अनुकरण नहीं किया। नाटक रंगमंच के लिए है, यह बात उनकी दृष्टि से कभी ओझल नहीं हुई। भाषा के संबंध में उनका स्पष्ट नजरिया था: "नाटक भाषा सिखाने का एक माध्यम समझा जाए, यह उतना ठीक नहीं है, जितना हम भावना के उद्गम, एकता और उत्थान का जनक समझें।"

कश्मीर की क्लियोपेट्रा और *बाला बंजारा* जैसे उपन्यास उनकी अंतर्दृष्टि का परिचय देते हैं। *कश्मीर की क्लियोपेट्रा* में मानव-मन की विविधता और विचित्रता का सुंदर विश्लेषण मिलता है। जो नारी यह कह सकती है, "ठहरो, ठहरो, तुमने फिर मेरे कंधे पर हाथ रखकर मेरे बचपन के नाम से पुकारा। हाथ दूर करो और उसी के साथ अपनी उस महत्वाकांक्षा को भी। कश्मीर के सिंहासन पर बैठ जाने की हिम्मत न करो। मैंने तुम्हें चाचा बनाया है, उस संबंध पर छीटा न डालो। कश्मीर के राज्य में मैं तुम्हारी पदोन्नति प्रधानमंत्री तक कर सकूंगी। तुम्हें अधिक लालच करने की आवश्यकता क्यों है।" वही अंत में सर्पदंश के द्वारा आत्महत्या कर लेती है। स्वयं को शत्रु समझ, अपने संघर्षमय जीवन का इस प्रकार अंत कर लेना मानव-मन की विडंबना का ही परिचायक है। रोमांचकारिणी नारी का यही अंत हो सकता

था। वह वीर रमणी थी। प्रजा वत्सलता उसका स्वभाव था या उसकी लालसाओं का आवरण, यह कहना कठिन है। लेकिन यहां इसका चित्रण जिस प्रकार लेखक ने किया है, उससे स्पष्ट हो जाता है कि लेखक नारी-मन में कितना गहरा डूबा है।

उनके प्रयोगों का कोई अंत नहीं था और उसी प्रक्रिया में, अंत में वह सन् 1960 में 'गीत एवं नाटक प्रभाग' में आ गए। यहां वह बारह वर्ष रहे। इसी अवधि में मेरा उनसे परोक्ष परिचय हुआ।

कठपुतलियों के क्षेत्र में भी उन्होंने काम किया। उसके लिए नाटक लिखा। मैजिक नाटक भी लिखा। पर 'गीत एवं नाटक प्रभाग' के प्रमुख कर्नल गुप्ते से उनकी पटरी नहीं बैठी। गुप्ते उनकी भाषा समझ ही नहीं पाते थे। उनकी बातों में इस व्यथा को मैंने स्पष्ट अनुभव किया था।

उसके बाद वह सब कुछ छोड़कर नैनीताल लौट गए। यह संघर्षमय लंबी कहानी उनके अडिग विश्वास और लगन को प्रकट करती है। नैनीताल कालेज के निमंत्रण पर मैं जब वहां गया तो मेरे स्वागत में उनके मुख पर फैली मधुर-स्मिति अब भी मुझे पुलकित कर देती है। वह उठकर बाहर तक आए थे। खाते-पीते, बातचीत करते मैं निरंतर यही अनुभव करता रहा कि आज की तामसिक दुनिया में एक ऐसे वातावरण में आ पहुंचा हूं जहां स्नेह ही स्नेह और सद्भावना ही सद्भावना है। एक चिर-परिचित की तरह उन्होंने अपने परिजनों से मेरा परिचय करवाया। उनकी बेटी के स्नेहिल स्वभाव की छाप आज भी मेरे मन पर अंकित है।

मैं नहीं जानता, उन्हें कभी क्रोध आता था या नहीं, पर साहित्य-जगत में उनकी जो उपेक्षा हुई, जीते जी उन्हें विस्मृति के गर्भ में डाल दिया गया, इसकी कसक उनके अंतर में कभी-कभी सौ परतों को चीरकर उजागर हो ही जाती।

जब वह भारत सरकार के 'गीत एवं नाटक प्रभाग' में काम करते थे तब मेरी उनसे कई बार बातें हुईं। उनकी वाणी में आक्रोश सतह पर बिल्कुल नहीं था, परंतु उनके शब्दों में वेदना और व्यथा थी, वह क्या छिपी रह सकती थी : बाद में अपने 18 मार्च 1983 के पत्र में उन्होंने मुझे इतना ही लिखा : 'गीत एवं नाटक प्रभाग में भी दो-तीन नाटक थे, मालूम नहीं, वे खेले जाते हैं या नहीं!'

इससे पूर्व एक पत्र में उन्होंने लिखा, "इस आयु में मेरी सक्रियता सिगरेट की-सी लत है। मैं अपने साहित्य में कोई विशेषता नहीं पाता। इसीलिए दो-तीन व्यक्तियों ने जब शोध की चेष्टा की, वे सफल नहीं हो सके। यह भी एक साक्षी है।"

यह संघर्षमय लंबी कहानी उनके अडिग विश्वास और लगन को प्रकट करती है। चंद्रप्रकाश सक्सेना से एक भेंटवार्ता में उन्होंने स्पष्ट कथा था, "मेरे जीवन में यदि कोई घटना है तो यह कि किसी आलोचक ने मेरा नाम नहीं लिया, जबकि मैंने खूब लिया है। किसी से मुझे शिकायत भी नहीं है (क्योंकि) यह स्थिति मेरे लिए प्रेरणास्रोत बन गई है। मुझे लगता है कि मेरे लेखन में अभी वह बात पैदा नहीं हुई है, जो आलोचकों को आकृष्ट कर सके। मुझे उसकी खोज है और इसी खोज में लिखता जा रहा हूं।"

'इसी खोज में लिखता जा रहा हूं'—इन शब्दों में उनकी महानता का रहस्य छिपा है। उन्होंने हार नहीं मानी। उस व्यथा को ही अपनी शक्ति बना लिया। इस सबके बावजूद अपने को महान मानना तो दूर, वह यह भी नहीं मानते थे कि उन्होंने हिंदी साहित्य को कुछ विशेष दिया है। लेकिन उनकी अभिलाषा थी कि 'कुछ अच्छा लिखने के लिए मैं अभी थका नहीं हूं।' □

मैं और मेरी कहानी

कथाकार हृदयेश का मानना है कि लेखक का कार्य-जनपद ही उसका साहित्य-जनपद होता है।

इस वक्तव्य को कलमबंद करते हुए मेरे सामने समस्या यह आई थी कि मैं अपनी बात कहां से शुरू करूं। एक हल यह हो सकता था कि मैं किसी दार्शनिक सूत्र का सहारा ले लेता। तब इससे मेरा वक्तव्य भी कुछ गरुआ हो जाता और आप विद्वानजनों के सामने आने के लिए मैं सुरक्षा कवच धारण करने का मुगालता भी पा लेता। कहानी लिखते हुए ऐसी दिक्कत आने पर कि कहानी का सिरा कहां से उठाया जाए, मैं करता यह हूँ कि कहानी के अहम किरदार के बारे में मौजू-गैर मौजू ढंग के पचड़े में बगैर ज्यादा पड़े हुए, कुछ जानकारीयां देना शुरू कर देता हूँ। ऐसा मैं इसलिए तो करता ही हूँ कि मेरे लिए यह तरीका आसान है, इसलिए भी करता हूँ कि कहानी दर्शन नहीं, जीवन है। जीवन दर्शन है, दर्शन जीवन है, इन दोनों में फर्क है।

तो वही आजमाया हुआ तरीका अपनाते हुए इस वक्तव्य के किरदार के बारे में मैं मोटी-मोटी सूचनाएं दे रहा हूँ। बात भी चल निकलने पर फिर अपना रास्ता खोज ही लेती है। मैं हृदय नारायण मेहरोत्रा भी हूँ और हृदयेश भी। हृदय नारायण मेहरोत्रा का जन्म 1930 में हुआ था और हृदयेश का 1951 में। हृदय नारायण मेहरोत्रा की स्कूली शिक्षा सिर्फ दर्जा दस तक हुई थी। सत्रह वर्ष की कच्ची उम्र में हृदय नारायण ने मुलाजमत शुरू कर दी थी, कचहरी जैसे संस्कृति की खाट खड़ी करने वाले महकमे में, जहां उसको स्टेनोग्राफरी की ड्यूटी में सुबह आठ बजे से शाम पांच बजे का समय देना होता था। जिंदगी के स्वर्णकाल में से चालीस वर्ष भेंट करने के बाद हृदय नारायण 1988 में रिटायर हो गए। यों हृदयेश को भी साहित्य की ड्यूटी बजाते चालीस वर्ष से ऊपर हो चुके हैं और बहुत से इस धारणा के होंगे कि अब मुझे यहां से भी रिटायर हो जाना चाहिए। आप में से भी अगर कुछ मुझे ऐसी सलाह देंगे तो मैं आपकी नेकनीयती पर शक तो नहीं करूंगा, लेकिन इस सलाह को मानूंगा नहीं।

ऐसा नहीं है कि मुझे ऐसी कोई खुशफहमी हो कि निकट भविष्य में मैं अपनी प्रतिभा और क्षमता के बल पर अप्रतिम रचनाओं द्वारा हिंदी कथा-साहित्य की श्रीवृद्धि अवश्य करूंगा। मैं जो अपने होशोहवास तक साहित्य-सृजन के नाम पर कलम पकड़े रहना चाहता हूँ, तो इसलिए कि यह मेरे अपने होने की सार्थकता है। मुझे दूसरों की ही नहीं, अपनी रचनाओं से भी दृष्टि मिलती है। भले ही इसे छोटे शहर की मानसिकता माना जाए, ईमानदारी, नैतिकता, अपमूल्यों का अस्वीकार, मात्र मेरी रचनाओं के ही विषय नहीं हैं, ये मेरी निजी जिंदगी में भी अहमियत रखते हैं। मैंने अपनी चदरिया पर जो ज्यादा दाग-धब्बे पड़ने नहीं दिए हैं तो साहित्य से मिली इस दृष्टि के कारण ही। इधर कहा जा रहा है कि साहित्यकार की भद्रता उसके लेखन का अहित करती है और 'ग्रेट राइटिंग्स' वे ही कर सकते हैं, जो हर प्रकार के बंधनों, अंकुशों, निषेधों तथा मर्यादाओं को अस्वीकार करते हैं

और अपनी शर्तों पर ही जीवन जीने का खतरा उठाते हैं। ऐसा कर भी मैं ढंग का साहित्यकार तो बन नहीं पाता, जो थोड़ा-बहुत ढंग का आदमी हूँ, तब वह भी नहीं रहता। जिन साहित्य बंधुओं ने इसे 'ग्रेटनेस' हासिल करने की एक अनिवार्य शर्त मान लिया था और 'बोल्डनेस' के नाम पर व्यभिचार को विचार का पर्याय बना दिया था, उनमें से भी बहुत, इस मुहावरे के लिए क्षमा चाहूंगा, न घर के रहे और न घाट के। यहीं पर यह प्रश्न भी उठता है कि क्या साहित्य का उद्देश्य मनुष्य को मांजना नहीं है, या साहित्य आदमी होने की तमीज है, यह कथन ही झूठा है।

मित्रो, मैं एकदम सही-सही नहीं बता सकता कि साहित्य की रचनाशीलता से मैं क्योंकि जुड़ा या वे प्रेरक तत्व क्या थे। मेरे परिवार में साहित्यिक वातावरण दूर-दूर नहीं था। नेपथ्य में कोई औरत भी नहीं थी। बहुत टटोलने पर जो दो-एक कारण मैं पाता हूँ, उनमें से एक है आगे न पढ़ सकने से पैदा हुई हीनभावना से उबरने की चाह। एक यह है कि हिंदी साहित्य सम्मेलन की मध्यमा तथा उत्तमा परीक्षाएं, जिनको ही तब मैं व्यक्तिगत रूप से दे सकता था, देते हुए मैं साहित्य के संपर्क में आ गया था। परीक्षाएं दे चुकने के बाद ही मैंने लिखना प्रारंभ कर दिया था। पहली कहानी वाराणसी के दैनिक पत्र *सन्मार्ग* में प्रकाशित हुई थी। दो-तीन वर्ष हास्य-व्यंग्य के छोटे-छोटे लेख लिखे, कोश की सहायता से छिटपुट अनुवाद भी किए, मगर ये काम मन को रास नहीं आए। इनको छोड़कर फिर कहानियां और कहानियां लिखने लगा। यदि तब नए लेखकों के साथ संपादकों का आज जैसा सुलूक होता कि रचना की प्राप्ति-सूचना नहीं दी जाती, रचना को निर्णय के कीले से थूल जाने वाले समय तक के लिए टांग दिया जाता और 'टिकट लगा व पता लिखा लिफाफा साथ में लगाने पर भी रचना नहीं लौटाई जाएगी' की दादागीरी होती या मेरी रचनाएं आंख मीचकर घड़ाघड़ वापस की जाने लगतीं, तब शायद मैं इस लेखन-कर्म से पलायन कर जाता। मेरे लेखक न होने से हिंदी कथा-साहित्य की सेहत पर जरूर कोई असर नहीं पड़ता, लेकिन हृदय नारायण मेहरोत्रा को हृदयेश बनने का जो सुख और संतोष है और उसे आप जैसे विद्वानों के बीच आने के जो दो-चार अवसर मिल जाते हैं, उनसे वह सच में वंचित रह जाता।

छठे और सातवें दशक में हिंदी की पत्रिकाओं में *कल्पना*, *ज्ञानोदय*, *माध्यम*, *नई कहानियां*, *धर्मयुग* और *साप्ताहिक हिंदुस्तान* की एक खास साख थी। *कल्पना* व *ज्ञानोदय* के बारे में तो यहां तक कहा जाता था कि वहां बिना स्थान पाए स्वयं को कोई लेखक नहीं मान सकता। बालकृष्ण राव के संपादन में निकली *कादंबिनी* तब एक दृष्टि-संपन्न पत्रिका थी। *विनोद* और *अणिमा* ने भी, जो कलकत्ता से निकलती थीं, जल्दी ही अपनी सुस्पष्ट

पहचान बना ली थी। *माया* व *नीहारिका* भी एक बड़े पाठक समूह में प्रिय बनकर हल्की-फुल्की के साथ-साथ कुछ गंभीर किस्म की भी सामग्री परोस रही थीं। इन्हीं दो दशकों में 'नई कहानी' का आंदोलन चला, फिर 'सचेतन' का, फिर 'अकहानी' का। कहानी उन दिनों निर्विवाद रूप से साहित्य की केंद्रीय विधा थी। यों भी कह सकते हैं कि वह कहानी का वसंत-काल था। ऐसे समय में बाझ और कुकाठ वृक्षों में भी दस-पांच टूंगें फूट आना सहज संभाव्य है।

शाहजहांपुर, जहां मैं पैदा हुआ और जो मेरा धर्मक्षेत्र-कुरुक्षेत्र प्रारंभ से ही रहा, जिला होते हुए भी कस्बा है। यहां नगर मार्ग के नाम पर बस एक सड़क है, सो भी लुंज-पुंज। नाली का बहाव किधर है, काफी सोच-समझकर बताने वाला आदमी भी ज्यादातर गलत हो जाता है। यहां बस सर्विस तो बड़ी बात, टेंपो भी नहीं चलते हैं। मुख्य बाजार के नाम पर ग्राहकों के बैठने के लिए कील उकसी लकड़ी की बेंचों या टीन की कुर्सियों की सुविधा जुटाती बेतरतीब दुकानें हैं। यहां गिने-चुने पेशे व कारोबार हैं और आम आदमी से ताल्लुक रखने वाले बस दस-पांच सरकारी दफ्तर। यहां के सबसे बड़े अफसर आज भी कलक्टर, पुलिस कप्तान और जज हैं। यहां के निवासियों के पास अपने शहर की इज्जत को ढकने के लिए बस यही लत्ता होता है—जनाब यह शहीदों की नगरी है। आजादी की खातिर हंसते-हंसते फांसी पर चढ़ जाने वाले राम प्रसाद बिस्मिल, अशफाक उल्ला खां और रोशन सिंह शाहजहांपुर के ही थे। मैं यह सब इसलिए बता रहा हूं कि लेखक का कर्म-जनपद ही उसका साहित्य-जनपद होता है। लेखक जहां रहता है और जिनके बीच वह उठता-बैठता, काम करता व सांसें लेता है तथा जिन हलचलों, उठा-पटक, घात-प्रतिघातों के बीच से वह गुजरता है, वे सब संवेदना के स्तर पर उसके अनुभव-संसार का हिस्सा बनते हैं। उसका परिवेश तथा उसकी आर्थिक और सामाजिक स्थितियां उसकी सोच और समझ को बहुत-कुछ संचालित व नियंत्रित करते हैं। अधिकतर वह अपने कथानक, चरित्र और उनको खड़ा करने वाली कच्ची-पक्की सामग्री सब वहीं से चुनता है। इनको चुनते हुए वह स्वयं को बहुत सहज और आश्वस्त महसूस करता है। मेरी रचनाओं में जो छोटे-छोटे पेशों से जुड़े और छोटी-छोटी इच्छाओं-आकांक्षाओं को ही बड़ा मानकर उनकी पूर्ति के लिए संघर्षरत लोग हैं, इसका कारण यही है कि मेरा साबिका ऐसे ही लोगों से रहा है। मेरी रचनाओं में अभाव का जो गहरा साया या निम्न-मध्य वर्गीय मानसिकता है, इसका कारण मेरा उस वर्ग का होना और एक लंबे समय तक ऐसी जिंदगी जीना है, जो यातना का सफर होता है। मेरी रचनाओं में परिवेश का जो एक सीमित फलक या सामाजिक और नैतिक घुटन लिए कस्बा है, इसका कारण मेरा मुद्दत से एक ठहरे हुए शहर में रहना है। भाई सुरेंद्र वर्मा जब मेरे शहर शाहजहांपुर एक पुरस्कार के बहाने आए थे, तो उनको अपने लिखे जा रहे उपन्यास *मुझे चांद चाहिए* की नायिका का दमघोंटू बचपन दिखाने के लिए यह शहर एकदम सही लगा था। इस शहर से बाहर निकलकर ही सिलबिल वर्षा वशिष्ठ बनी थी और तब उसके लिए किसी भी शिखर को छूना मुश्किल नहीं रहा था। वर्षा वशिष्ठ की इस चमत्कारी विजय यात्रा से प्रेरणा लेकर अब मैं भी अपने शहर से बाहर निकलने लगा हूं।

मित्रो, कोई भी लेखक कलम पकड़ने के साथ ही समझ नहीं पा लेता है। वह अपेक्षित समझ धीरे-धीरे ही प्राप्त करता है। सच तो यह है कि समझ पाने या प्रौढ़ होने की प्रक्रिया सतत है। मुझे यह स्वीकार करने में कोई झिझक नहीं है कि एकदम शुरू में मैंने जो कहानियां लिखीं, वे छपास की भूख के तहत थीं। तब महीने में एक से अधिक कहानी लिखने का लक्ष्य

था। घटना, स्थिति या संयोग-वियोग के रूप में जो भी कच्चा माल मिल जाता था, उसे उठाकर झट कहानी गढ़ देता था। अब मेरी कलम से कहानियां तभी जन्म लेती हैं, जब मेरे या मेरी जानकारी में किसी दूसरे के साथ कोई अन्याय हो जाता है, या कोई चिंताजनक हादसा घट जाता है, या कोई उदात्त सुख थापें देने लगता है, या कोई ऐसा विचार घेरने लगता है जो अपने समय और समाज के किसी सच को उद्घाटित करता हो।

लेखक जब अपने लेखन को गंभीरता से लेने लगता है तो उसका प्रयास यह होता है कि उसका कृतित्व गुणात्मक दृष्टि से निखरता चले, वह सामान्य की भीड़ से अलग हटकर हो, वह दूसरों की जूठन को अपना आहार न बनाए और अगर किसी विषय पर कोई कह चुका हो तो कुछ इस तरह कहे कि उससे बेहतर होने के साथ-साथ वह कुछ अलग आस्वाद भी दे। जब लेखक अपने लेखन पर कुछ इस तरह के अनुशासन और प्रतिबंध लगा लेता है तो उपयुक्त की तलाश में वह तमाम अनुपयुक्तों को खारिज करने लगता है और किसी वस्तु को उठा लेने के बाद भी कोई खोट पाकर उसे अधबीच छोड़ देता है। इस प्रक्रिया में उसका लेखन संस्थात्मक दृष्टि से कम होता जाता है। एक लेखन अभ्यास जनित होता है और दूसरा ऊर्जा जनित। ऊर्जा जनित लेखन ही साहित्य का गौरव बनता है। यह आवश्यक नहीं है कि इन प्रतिबंधों और अनुशासनों को स्वीकार करते हुए जो रचनाएं आएँ, वे प्रथम श्रेणी की ही हों, पर उसके लिए वहां इच्छा और प्रयास तो होता ही है। इस इच्छा और प्रयास को अपने में बनाए रखने की सचेष्टता लेखक के जीवित होने का प्रमाण है।

मेरे पास संतूर, वायलिन या आर्केस्ट्रा के अन्य संभावना-समृद्ध वाद्य-यंत्र नहीं थे। मुझे जो इकतारा मिला था, मैंने उसी पर जीवन के विभिन्न रागों को बजाने का अपनी क्षमता-भर प्रयास किया है।

मित्रो, मैंने अपनी कहानियों में कथा-तत्व को महत्व दिया है। मैं यह शिद्दत से महसूस करता हूं कि यह तत्व ही कहानी का प्राण-तत्व है। कहानियां अपने कथानकों से ही याद रखी जाती हैं। यह ठीक है कि साहित्य और कला के संसार में दो गुणा दो बराबर चार का सरलीकृत फार्मूला नहीं चलता है, किंतु इसी के साथ यह भी सच है कि शून्य को चाहे जितने भारी अंकों से और चाहे जिस प्रकार गुणा किया जाए, नतीजा वही शून्य आएगा। हवा में किए गए करिश्मे के पैर नहीं होते हैं। विधा को गतिशील और ताजा रखने के नाम पर विधा की मर्यादा को धत्ता बताते किए गए प्रयोग विधा को या तो विधा ही नहीं रखते हैं या विधा के द्वार पर मोटी सांकल जड़ देते हैं। चौदहवें माले पर बैठा व्यक्ति चौदहवें माले या हद-से-हद तेरहवें और बारहवें माले वाले से ही संवाद कर सकता है। नीचे पटरी पर आ जाने पर ही उसकी बात को सुनने और समझने वाले तमाम लोग जुट जाते हैं। साहित्य के गणित में यह ऊपर से नीचे आना ही विकास है। बकौल आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, पंडिताई भी एक बोझा है, जितनी भारी होती है, उतनी ही तेजी से डुबोती है। होता यह है कि डूबी हुई चीज का मालिक व्याख्या का रस्सा फंसाकर अपनी चीज को ऊपर लाने की कोशिश करता है। वैसी विशिष्टता के कुछ हितैषी मदद के लिए आ जुटते हैं और दूसरों पर जताते हैं कि यह तल से ऊपर है, जल की रुपहली झिलमिलाहट से आवृत इसका अपना अनूठा सौंदर्य है। जरा ध्यान से देखिए तो। यह भ्रम वे कुछ ही समय तक बनाए रख पाते हैं, क्योंकि रस्से को आखिर कब तक पकड़े रखा जाएगा। अर्थ चाहे वह घन के संदर्भ में हो या मायने के, केवल दस-पांच का होकर रह जाने पर अनर्थ है।

सांस्कृतिक मूल्य बदल रहे हैं

रंगकर्मी सत्यदेव दुबे से पंकज झा की बातचीत



रेखांकन : पंकज झा

भारतीय रंगमंच को अपनी निर्देशकीय सूक्ष्मता से परिभाषित करने का अंदाजे-बयां सत्यदेव दुबे की सबसे बड़ी मौलिक पहचान है। सामाजिक विघटन, आपसी रिश्तों की कसक, व्यवस्थागत विसंगतियां और दरकते जीवन-मूल्यों की छटपटाहट को जीवंतता के साथ मंचित करा ले जाना उनकी खासियत का अनूठा पहलू है। वैसे तो निर्देशक की हैसियत से दुबे जी की सक्रियता 1956 से शुरू हुई। तब से लेकर आज की तारीख तक वह कई प्रमुख नाटककार मसलन, बादल सरकार, विजय तेंदुलकर, मोहन राकेश, गिरीश कर्नाड, आद्यरंगाचार्य, धर्मवीर भारती, महेश एलकुंचवार के लिखे नाटकों के अलावा कई विदेशी नाटकों को भी निर्देशित कर चुके हैं। साथ ही उन्होंने मराठी में भी कई नाटकों का सफलतापूर्वक मंचन किया है। उनके द्वारा निर्देशित नाटकों की फेहरिस्त काफी लंबी है। पिछले दिनों राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय रंगमंडल के लिए अपने लिखे नाटक *इंशा अल्लाह* के निर्देशन के समय वह दिल्ली में थे। राष्ट्रीय रंगमंच पर संभवतः पहली बार एक ऐसा नाटक *इंशा अल्लाह* मंचित हो रहा था जो रंगमंचीय परंपरा के विकास का चरम रूप है। इसमें आदमी के अंदर के मर रहे आदमी की अपने आप से मुठभेड़ है। निर्देशक सत्यदेव दुबे ने कई समानांतर हिंदी फिल्मों भी निर्देशित की हैं। उन्हें 1971 में संगीत नाटक अकादमी द्वारा पुरस्कृत भी किया जा चुका है। कबीर जैसी फक्कड़ता और कथाकार, कवि राजकमल चौधरी की अराजकता से लैस विद्रोहीपन सत्यदेव दुबे के साथ जुड़ा है। यही बात उन्हें सबसे अलग भी करती है। उनसे बातचीत करना जैसे एक नगमा हो—पहलू में बजता हुआ। उन्होंने दो टूक कहा : “हमें फुर्सत नहीं है अपना स्तुतिगान करने की।” काफी अनुनय-विनय के बाद जो कुछ उन्होंने कहा, प्रस्तुत है उसका संक्षिप्त रूप:

प्रश्न : क्या आपको नहीं लगता कि हिंदी मौलिक नाट्य-लेखन का अभाव आज भी बना हुआ है? आखिर आप इसका कारण क्या मानते हैं?

उत्तर : मेरे मानने या न मानने से कुछ भी नहीं होता है। अभाव बना है तो बना रहे। इसमें मैं क्या करूं! मौलिक नाटक लिखने के लिए मैं कोई आयोग या समिति का गठन तो नहीं कर सकता हूँ। जिस देश में नाटक का ही अभी तक कोई माहौल नहीं बना है, रंगमंच को लेकर कोई जनपक्षीय समझदारी विकसित नहीं हो पा रही है, वहां नाट्य-लेखन की चिंता किसे है! नाटककार हिंदी में नहीं लिख रहे हैं तो उसका कोई कारण तो है ही। भाई मेरे,

रचनाशीलता भोथरी हो रही है। सांस्कृतिक हमले और उथल-पुथल का यह दौर है। ऐसे समय में इस तरह के सवाल का जवाब मुझे नहीं सूझ रहा है।

दूरदर्शन के विभिन्न चैनलों के आगमन का असर क्या रंगमंच पर पड़ा है। क्या आप मानते हैं कि राष्ट्रीय रंगमंच ठहराव का शिकार है?



सत्यदेव दुबे द्वारा निर्देशित नाटक 'इंशा अल्लाह' का एक दृश्य

यह असर सामाजिक और पारिवारिक जीवन पर है। रंगमंच क्या चीज है भाई? चारों तरफ खंड-खंड-पाखंड का खेल चल रहा है और आप हैं कि रंगमंच की सेहत देखने में लगे हैं। रंगमंचीय विकास को किसी ने व्यापक फलक पर लिया ही नहीं। नाटक करना है, बस कर देना है। देखो भाई, मैं ठहरा बदनाम आदमी, मुंहफट, नंबर एक का जहर उगलने वाला आदमी। झूठ की जिंदगी अपने से बसर नहीं होती और न ही गंभीरता की चादर तानकर राग मल्हार गाना आता है। किसने कहा कि रंगमंच में ठहराव है। यहां गतिशीलता है, देखो, सब कुछ प्रवहमान है। सारे व्याकरण बदल रहे हैं। सोचने-समझने के तौर-तरीके बदल रहे हैं। कोई ऐसा सवाल न पूछो कि मेरा मुंह खुल जाए। बिना फुलस्टाप, कोमा के गलियाता रह जाऊंगा। सब अपने-अपने धंधे में लगे हैं। आप भी सौंदर्य प्रतियोगिता देखो, टीवी चैनल खोलो और पॉप रॉक की धुन पर थिरको। चुंबन शो में जाओ। एक रहन ईर, एक रहन वीड और एक रहन मत्ते गाओ। जीवन-मूल्यों की तलाश करने के सनकपन में मत लगे। अपने अंदर की आग को फिलहाल जलाए रखो। यही तो संघर्ष है। इससे अधिक मैं क्या कहूं? कम से अधिक जानो और अपने को पहचानो। कौन हूं मैं? अपने आप से बातें करो।

रंगमंच से सिनेमा की ओर कलाकारों का तेजी से पलायन हो रहा है। इसे आप किस रूप में देखते हैं?

यह तो होगा ही। इसमें आपको क्या कष्ट है? सिनेमा की ओर नहीं जाए तो कहां जाएं? सुखदेव लाल रामलीला पार्टी में भर्ती हो जाए तो आप खुश होंगे? क्या रास्ता है, आप ही बताइए। अभिनय को किसी सीमा में नहीं बांधा जा सकता है। वह अपने एहसासों के साथ विस्तार पाता है।

ग्लैमर और पैसा आज के उपभोक्तावादी समाज की पहली जरूरत है। रंगमंच के साथ ऐसा नहीं हो पाया है तो दूसरी तरफ पलायन होगा ही। इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। यह तो व्यावहारिक है। लेकिन इस पलायन का कोई खास असर रंगमंच पर नहीं पड़ने वाला है। इसे मैं सकारात्मक रूप में देखता हूं।

नाटक के निर्देशकीय पहलू के बारे में आप किस तरह सोचते हैं? कहने का मतलब, नाटककार और निर्देशक के बीच आप विभाजन रेखा कैसे खींचते हैं, ताकि कोई किसी पर हावी न हो?

बहुत उलझाने वाला सवाल कर दिया आपने। मेरा मानना है कि किसी भी नाटक की निर्देशकीय संदर्भ में निर्देशक या तो विनम्रता की प्रतिमूर्ति होता है या दंभ का स्वरूप। अपनी प्रस्तुति को स्वयं ही कुछ व्यक्त करने देने के बजाय वह उसे शब्दों में परिभाषित करने का आग्रह कर बैठता है और परिणाम भयंकर होता है। आलोचक और दर्शक उसी पर वाद-विवाद करते हैं जो निर्देशक ने कहा और नाटककार बेचारा कहीं पीछे धकिया दिया जाता है। इसलिए मैं शुरू में ही कह देता हूं कि नाटक वह चीज है, जिसमें हम अपने वर्तमान का प्रतिबिंब दिखा पाने की आशा करते हैं। दरअसल, नाटककार नाटक लिख चुकने के बाद एक साधारण, संकुचित, पूर्वाग्रही मनुष्य बनकर रह जाता है। उसकी रचनात्मकता हमेशा उसकी वृद्धि से ज्यादा प्रखर होगी। निर्देशक को नाटक का अध्ययन करना पड़ता है और वह इस प्रक्रिया में उसके साथ जीने लगता है और जो प्रस्तुति मंच पर उभरती है, वह नाटक होती है। यह कहते हुए मैं कहां तक ठीक हूं, मैं नहीं जानता। □

मैं और मेरी कहानी

पृष्ठ 36 से आगे

मैंने कहीं पढ़ा है। रवींद्रनाथ ठाकुर को नोबल प्राइज मिल चुका था। वह मृत्यु-शैया पर थे। बाहर गली में भिक्षुओं की टोली एक लोकगीत गाते हुए निकली थी। रवींद्रनाथ के मन में इच्छा जगी थी, काश मेरे रचे गीत बाउल गीत बन सकते।

पहली परंपरा के लेखन का स्थान सरकारी, अर्द्ध-सरकारी अकादमियों, परिषदों व कुलीन संस्थाओं के सेमिनारों और संगोष्ठियों के मंच पर या विद्वानों के अध्ययन-कक्षों में है। दूसरी परंपरा के लेखन का स्थान लोक-मानस में है। उसकी अपनी शान है। इसका अपना सुख है।

लेखक की प्रतिबद्धता और उसके सरोकार उसका लेखन ही बताता है, उसका वक्तव्य नहीं। वक्तव्य झूठा हो सकता है, लेखन नहीं।

मित्रो, मुझे चालीस वर्ष से ऊपर लिखते हो गए हैं। अपनी रचनाओं को हिंदी कथा-साहित्य में मान्यता दिलाने के लिए जिन आधिकारिक आलोचकों का सार्टीफिकेट मस्ट है, वह अभी तक मुझे मिला नहीं। दोष उनका नहीं है। मैं अपना माल लेकर जंचवाने वहां गया नहीं, न उसके लिए दौड़-धूप ही की। एक छुटभैए ने अन्य संदर्भ में दिए गए मेरे इस कथन को कि मुझे

कहानियां लिखना प्रिय है और मैं उपन्यास के क्षेत्र में मजबूरी में आया, प्रमाण बनाकर मेरे नए उपन्यास *पगली घंटी* की तो इत्मीनान से दुर्गति की ही, मेरी अन्य औपन्यासिक कृतियों को भी उपन्यास बदर कर दिया। अगर मेरे लेखन पर आई.एस.आई. या ऐगमार्क का ठप्पा लगा होता तो वह छुटभैया इतनी बेरहमी दिखाने से संकोच करता। यह भी मुमकिन था कि उसमें उत्तर आधुनिकता जैसा कुछ खोजकर तब वह उसे अपने रुढ़िग्रस्त रूप से भिन्न एक नए किस्म का उपन्यास घोषित कर देता। सच पूछिए तो यह अच्छा ही रहा कि मेरे लेखन का कोई नोटिस नहीं लिया गया। इसने मुझे अपनी रचनाओं को सामर्थ्यवान बनाने के लिए बराबर सचेष्ट रखा। वैसे भी कला तथा साहित्य की लंबी और संघर्षमयी यात्राएं अपने पैरों और अपने दमखम पर ही की जा सकती हैं। बिना सफर किए जो मंजिल पा लेते हैं, वे अभागे हैं, क्योंकि सफर का भी एक अपना सुख होता है। कई लेखक हैसियत-संपन्न संपादकों से इस तरह गांठ जोड़ लेते हैं कि उनके संपादक न रहने पर उनकी स्थिति हिंदू विधवाओं जैसी हो जाती है। मैंने अपने कई साथियों को निर्वासन के अंधेरे में चले जाते देखा है। मुझे संतोष है कि इस वैधव्य का दुख मुझे नहीं झेलना पड़ा।

अब मेरे लिए एक प्रसंग सुनाना जरूरी हो गया है। सितारे-हिंद गामा को एक बार वैज्ञानिकों ने अपने जलसे में बुलाया और आग्रह किया कि आप हमारे लिए दो शब्द कहिए। गामा ने कहा कि आप लोग सुबह-शाम सौ-सौ दंड-बैठकें लगाया करिए। इससे जिस्म मजबूत होने पर आपका दिमाग भी मजबूत रहेगा। गामा की बात को वैज्ञानिकों ने जिस तरह से लिया होगा, हृदयेश की बातों को आप भी उसी तरह से लीजिएगा। □

नई प्रतिभाओं का वर्ष

सन् 1996 की चुनिंदा पुस्तकों पर आर. चेतन क्रांति

गंभीर पाठकों यानी लेखकों, आलोचकों और संपादकों की नजर में हालांकि हिंदी में कोई बहुत आशाजनक स्थिति बनती नहीं दिखाई देती, इसके बावजूद सन् 1996 इस अर्थ में महत्वपूर्ण माना जाएगा कि इस वर्ष प्रकाशित अच्छी और पठनीय पुस्तकों में बहुतायत उनकी है जो या तो नए लेखकों की रचनाएं हैं, या ऐसे लेखकों की हैं जिनकी किताबों आमतौर पर काफी लंबे अंतराल के बाद आती हैं। इसलिए इस वर्ष को नए तेवर की रचनात्मकता के उदय का वर्ष भी कहा जा सकता है। कई पुस्तकें काफी चर्चित भी रहीं। लेकिन किसी बड़ी रचना की प्रतीक्षा इस वर्ष भी अधूरी ही रही। निराशा का दूसरा पहलू रहा समाजशास्त्रीय पुस्तकों को लेकर अर्थात् इस वर्ष भी कोई महत्वपूर्ण और मौलिक समाजशास्त्रीय पुस्तक अपनी भाषा में नहीं आई।

फिर भी यह कम आशाजनक नहीं कहा जाएगा कि अनेक पुस्तकें न सिर्फ अपने आप को पढ़वाने में समर्थ रहीं बल्कि प्रशंसा और पुरस्कारों की पात्र भी बनीं। गत वर्ष की रचनात्मकता की एक मोटी रूपरेखा तैयार करने के लिए इस क्षेत्र से जुड़े महत्वपूर्ण लोगों की राय पर नजर डाली जा सकता है। कवि और समकालीन भारतीय साहित्य के संपादक गिरधर राठी ने मनोहर श्याम जोशी कृत *हमजाद* को किसी हद तक झकझोरने वाली रचना पाया। उपन्यासों में उन्हें *खिलेगा तो देखेंगे* (विनोद कुमार शुक्ल) और *परसा* (गुरुदयाल सिंह) भी पठनीय लगे। इसके अलावा कहानी में *टोबा सागरगेट* (उषा चौधरी), *कहानी की तलाश में* (अलका सरावगी), कविता में *नए इलाके में* (अरुण कमल), *तिनका-तिनका* (अशोक वाजपेयी), *यह लिखता हूं* (प्रयाग शुक्ल), *दो बारिशों के बीच* (राजेंद्र धोड़पकर), और आलोचना में *उत्तर आधुनिकता* (देवेंद्र इस्सर), *तीसरा रुख* (पुरुषोत्तम अग्रवाल) आदि पुस्तकें भी उन्हें पसंद आईं।

कथाकार निर्मल वर्मा को *खिलेगा तो देखेंगे* के अलावा मंजूर एहतेशाम का *दास्ताने-लापता* पसंद आया। उन्होंने आलोचना में भी कुछ पुस्तकें पढ़ीं। इनमें अशोक वाजपेयी की *कविता का गल्प*, रामस्वरूप चतुर्वेदी की *हिंदी गद्य : विन्यास और विकास* और मदन सोनी की *विषयांतर*। कविता में उन्हें गगन गिल की *अंधेरे में बुद्ध*, विजयशंकर की *आज मैंने बहुत-सा उजाला देखा* और इतिहासकार गोविंद चंद्र पांडेय की *हंसिका* अच्छी लगी।

कथाकार तथा हंस के संपादक राजेंद्र यादव को उपन्यासों में *सात आसमान* (असगर वजाहत), *मुखड़ा क्या देखे* (अब्दुल बिस्मिल्लाह), *खिलेगा तो देखेंगे* आदि पठनीय लगे। कहानियों में उन्हें *शापग्रस्त* (अखिलेश), *पिंटी का साबुन* (संजय खाती) की कहानियां रुचीं। संजीव की 'आरोहण' कहानी भी उन्हें उल्लेखनीय लगती है। इनके अलावा कुछ अनूदित पुस्तकें भी उनकी सूची में हैं, जैसे गुरुदयाल सिंह की *परसा* (पंजाबी), केशव रेड्डी की *मैंने जंगल को जीता* (तेलुगू) और मराठी से आनंद यादव की *नटरंग* आदि।

आलोचक नामवर सिंह को जहां वरिष्ठ कवि केदारनाथ सिंह की *बाध* और *उत्तर कबीर* महत्वपूर्ण लगती हैं, वहीं एकदम नए कवि हेमंत कुकरोती की *चलने से पहले* में उन्हें काफी संभावनाएं दिखाई देती हैं। ऐसे ही नए कहानीकार देवेंद्र के संग्रह *शहर कोतवाल की कविता* की कुछ कहानियां भी उन्हें अच्छी लगीं। इनके अलावा *मुखड़ा क्या देखे*, *सात आसमान*, *खिलेगा तो देखेंगे* आदि उपन्यास भी उन्हें पसंद आए। आलोचना में रामविलास शर्मा की *भारतीय साहित्य की भूमिका*, बच्चन सिंह की *हिंदी साहित्य का दूसरा इतिहास* आदि पुस्तकें उन्हें महत्वपूर्ण लगीं। इनके अलावा *तीसरा रुख* (पुरुषोत्तम अग्रवाल), *उत्तर आधुनिक साहित्यिक विमर्श* (सुधीश पचौरी) तथा *भारत तब से अब तक* (भगवान सिंह) भी उन्हें स्वागत योग्य प्रकाशन लगे।

इस तरह मतभिन्नता के बावजूद पठनीय पुस्तकों की एक काफी लंबी सूची हमारे पास है। उनमें से कुछ पुस्तकें ऐसी भी हैं जिनसे हमें काफी उम्मीद रखनी चाहिए और जिन्हें देखने से लगता है कि धीरे-धीरे ही सही, अगली सदी की रचनात्मकता अपना अलग रूप धारण कर रही है।

सात आसमान सुप्रसिद्ध नाटककार और कहानीकार असगर वजाहत की पहली औपन्यासिक रचना है। इसके अलावा इस उपन्यास का कलेवर इतना व्यापक है जितना आमतौर पर हिंदी उपन्यासों में नहीं होता। इसमें एक सामंती परिवार के चार सौ साल के उत्तार-चढ़ाव का लेखा-जोखा है। लेकिन लेखक का दृष्टिकोण कहीं भी एकांगी नहीं हुआ है। न ही अपनी कथा के साथ उसका 'ट्रीटमेंट' किसी फलसफाना कूरता के साथ रहा है। कुल मिलाकर वह मानव-नियति की कथा कहता है। उपन्यास में असंख्य पात्र हैं जो अपने-अपने कद के साथ सामने आते हैं और लेखक उन्हें सिर्फ समाजशास्त्रीय घटकों के रूप में प्रक्षेपित नहीं करता जोकि इस तरह की कथा में बहुत आसानी से हो सकता था, वह उन्हें उनकी पूरी मानवीय ऊष्मा के साथ प्रस्तुत करता है। यही उपन्यास की उपलब्धि है। उपन्यास की सीमा है उसका अत्यंत विवरणात्मक होना। इतने संभावनाशील कथानक में कहीं भी कोई स्थिर चित्र नहीं बनता। सब कुछ एक तेज रफ्तार के साथ भागता चला जाता है और इस तरह इस वर्ष हिंदी को एक बड़ी रचना मिलते-मिलते रह जाती है।

अब्दुल बिस्मिल्लाह *झीनी-झीनी बीनी चदरिया* के पूरे दस वर्ष बाद अपना नया उपन्यास *मुखड़ा क्या देखे* लेकर आए हैं। यह उपन्यास भी हिंदी उपन्यास की परंपरा से थोड़ा अलग हटकर है। उसका कथा विस्तार आजादी के कुछ वर्ष बाद से लेकर आपातकाल तक है। लेकिन वह ऐतिहासिक उपन्यास नहीं है। इसमें इतिहास की बड़ी और विराट घटनाओं

की उन छायाओं की कथा आती है जो आम आदमी की जिंदगी में पड़ती हैं। जाहिर है कि यह एक मार्मिक उपन्यास है जिसमें भारतीयता के करुणा आदि मूल्य प्रतिबिंबित हुए हैं। साथ ही यह उक्त कालखंड के दौरान संपन्न हुई विकास-प्रक्रिया की कहानी भी है जिसमें पुराने मूल्यों के विध्वंस और भारतीय जनजीवन की विकट जिजीविषा के दर्शन भी होते हैं।

उपन्यासों में अगली उपलब्धि है विनोद कुमार शुक्ल का *खिलेगा तो देखेंगे* और मनोहरश्याम जोशी का *हमजाद*। श्री शुक्ल अपने पहले उपन्यास *नौकर की कमीज* से हिंदी जगत में पर्याप्त चर्चा प्राप्त कर चुके हैं। उनकी यह रचना भी शैली और अभिव्यक्ति के स्तर पर नई जमीन तोड़ती है।

कसप, *कुरु-कुरु स्वाहा* और *हरिया हरक्यूलिस की हैरानी* जैसे उपन्यासों के लेखक मनोहरश्याम जोशी का नया उपन्यास *हमजाद* भी इसी वर्ष आया और यह भी उनकी अन्य रचनाओं की तरह काफी चौंकाने वाला उपन्यास है। जो बात इसमें सर्वाधिक ध्यान खींचती है, वह है इसके केंद्रीय चरित्रों की 'एक्स्ट्रीमनेस'। एक जहां हद दरजे तक कमीना है तो दूसरा लिजलिजेपन की सारी हदों को तोड़ देता है। इस जुगलबंदी में यह समझना मुश्किल हो जाता है कि लेखक का मकसद क्या है। अगर उसका उद्देश्य पाठक को आधुनिक जीवन के कुछ पहलुओं और चरित्रों के प्रति जुगुप्सा से भर देना है, तो निश्चय ही लेखक अपने उद्देश्य में कामयाब रहा है।

उपन्यासों के अलावा कहानी में भी गत वर्ष कुछ बेहतर किताबें आईं। इनमें सबसे पहले उल्लेख किया जाना चाहिए अखिलेश के संग्रह *शापग्रस्त* का। इस संग्रह की कई कहानियां पहले से ही पत्र-पत्रिकाओं में छपकर चर्चित हो चुकी हैं। 'चिट्ठी' और 'जलडमरूमध्य' ऐसी ही कहानियां हैं। 'चिट्ठी' में जहां बेरोजगारी और व्यर्थता की शिकार युवा-पीढ़ी के दुख को अद्भुत कौशल से व्यंजित किया गया है, वहीं 'जलडमरूमध्य' दो पीढ़ियों के मूल्यगत अंतर और जीवन की परिवर्तनीयता की क्रूरता को रेखांकित करती है। अखिलेश की ये, तथा अन्य कहानियां भी, थोड़ा अलग ढंग की कहानियां हैं। उनके यहां 'फार्म' को तोड़ने और उसका पुनःसृजन करने की अद्भुत क्षमता है। उनके यहां खास रंग के जीवंत, हंसमुख और शरारती गद्य के जरिए सत्य की पड़ताल की जाती है। निश्चय ही, आने वाले समय में अखिलेश एक अच्छे कहानीकार के रूप में जाने जाएंगे।

दूसरा महत्वपूर्ण कहानी संग्रह संजय खाती का *पिंटी का साबुन* आया। इसे वर्ष के आर्य स्मृति पुरस्कार से सम्मानित भी किया गया और सबसे महत्वपूर्ण तथ्य इसके संबंध में यह है कि यह लेखक की पहली पुस्तक है। इस संग्रह की कई कहानियां स्मरणीय हैं जिनमें 'पिंटी का साबुन' अपनी प्रतीकात्मकता और तनाव के कारण सचमुच बेहद अच्छी बन पड़ी है। इसके अलावा 'पिंजरे में परी', 'एंटीक' और 'सबक' आदि कहानियां अत्यंत सजगता और कौशल के साथ लिखी गई हैं। इस संग्रह की ज्यादातर कहानियों की पृष्ठभूमि पर्वतीय है। वहीं के सुख-दुख, आशा-आकांक्षाओं का प्रतिबिंबन उनमें हुआ है, लेकिन फिर भी मानवीय दायरा संकीर्ण नहीं हुआ। हर कहीं और हर किसी की कहानियां हैं ये।

देवेंद्र का पहला कहानी संग्रह *शहर कोतवाल की कविता* भी उल्लेखनीय है। बकौल नामवर सिंह 'दिल को दहला देने वाली' कहानी 'क्षमा करो हे वत्स!' इसी में है। इस कहानी की विशिष्टता यह है कि इसकी तरफ ध्यान कलागत कारणों से नहीं जाता बल्कि इसकी नंगी घटनात्मकता हमें हिलाकर रख देती है।

कुछ बेहतरीन कविता-संग्रह भी गत वर्ष प्राप्त हुए। उनमें हेमंत कुकरेती का पहला काव्य संग्रह *चलने से पहले* नई ऊर्जा और काव्यगत विशिष्टताओं

के चलते महत्वपूर्ण है। इसे पढ़ते हुए काफी ताजगी, अवयस्क सच्चाई और अपनी अनुभूति की प्रामाणिक अभिव्यक्ति की कोशिश दिखाई देती है। हेमंत भी पहाड़ और उसकी पीड़ा के प्रति संवेदनशील रचनाकार हैं। उनकी कविताओं में पहाड़ के बरअक्स शहर पृष्ठभूमि बनाने का काम करते हैं और इन दोनों के बीच के जटिल और विडंबनापूर्ण अंतःसंबंध से कविता का अनुभव आकार ग्रहण करता है। हेमंत के यहां निराशा और पराजय बोध भी दिखाई नहीं देते जो शहर के रूबरू खड़े रचनाकार में स्वभावतः आ जाते हैं, उसके बजाय हेमंत महानगरीय चुनौतियों के सम्मुख ज्यादा गहराई के साथ कविता को पकड़ते प्रतीत होते हैं।

कार्टूनिस्ट, नाटककार और पत्रकार राजेंद्र घोड़पकर का कविता-संग्रह *दो बारिशों के बीच* तथा गोविंद प्रसाद का पहला काव्य संग्रह *कोई ऐसा शब्द* भी इसी वर्ष आए। ये दोनों पुस्तकें भी अपनी ताजगी और नएपन के कारण उल्लेखनीय हैं। एक अन्य चर्चित संकलन रहा अरुण कमल का *नए इलाके में*। इस पर कवि को रघुवीर सहाय स्मृति पुरस्कार से भी सम्मानित किया गया।

विचार में एक उल्लेखनीय पुस्तक आई—स्व. कुबेरनाथ राय के व्याख्यानों का संग्रह *चिन्मय भारत (आर्ष चिंतन के बुनियादी सूत्र)*। ये व्याख्यान श्री राय ने हिंदुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद के सभागार में दिए थे। इनमें उन्होंने काल की भारतीय अवधारणा को कई स्तरों पर समझाने का प्रयास किया है। यह एक अलग ढंग की पुस्तक है।

इनके अलावा उन पुस्तकों में, जिनका उल्लेख अपेक्षित है, मृदुला गर्ग के लंबे समय के बाद आए उपन्यास *कठगुलाब* के अलावा, उषा प्रियवंदा की *शून्य तथा अन्य रचनाएं*, मैत्रेयी पुष्पा का कहानी संग्रह *ललमनियां*, जगदंबा प्रसाद दीक्षित का उपन्यास *अकाल* तथा बल्लभ सिद्धार्थ का *कटघरे* और शशांक का कहानी संग्रह *शामिल बाजा* भी महत्वपूर्ण हैं। □

आजकल

पाने का एक वेहतर तरीका

वार्षिक ग्राहक

बनना है

एक वर्ष का चंदा मात्र 50.00 रुपये
अपना चंदा कृपया इस पते पर भेजें :

व्यापार व्यवस्थापक

प्रकाशन विभाग,

पटियाला हाउस

नई दिल्ली-110001

दूरभाष : 3387983

रागदीप्त सच : अज्ञेय का काव्य और चिंतन

गोबिंद प्रसाद

विद्यानिवास मिश्र और रमेशचंद्र शाह द्वारा संपादित *अज्ञेय काव्य स्तबक* अपने मूल रूप में अज्ञेय की कविताओं का संग्रह नहीं, संकलन है। और संकलन भी ऐसा, जिसे समग्रतर बनाने के पीछे विद्यानिवास मिश्र पिछले पंद्रह सालों से इसी दिशा में सोचते रहे हैं।

साहित्य अकादमी के आग्रह पर तैयार किए गए इस स्तबक में अज्ञेय की 134 कविताएं संकलित हैं। कविताओं के संचयन में कोई चुनाव-दृष्टि तो अवश्य रही होगी। लेकिन उस चुनाव-दृष्टि के आधार को पाठकों के सम्मुख न रखने अथवा उस चुनाव-दृष्टि में पाठकों का साझा न करने के पीछे क्या दृष्टि रही होगी, इसका कोई कारण—स्पष्ट कारण—‘प्राक्कथन’ में नहीं दिखाई पड़ता। कविताओं के अंत में उनका रचना-काल और स्थान (जिसे ‘रचना-देश’ भी कहा जा सकता है क्या!) देकर संपादक द्वय ने जिज्ञासु पाठक समाज तथा ‘एन्केडमीशियन्स’ अथवा शोधार्थियों के लिए जिन अर्थगत आयाम एवं रचनाभूमि से जुड़ी अन्यान्य संभावनाओं को सामने रखा है, उससे संकलन की उपादेयता व सार्थकता और बढ़ गई है। यानी समय और स्थान देने से रचना का पाठ और रचना की मनोभूमि के विस्तार को तो प्रबुद्ध पाठक पकड़ेगा ही, साथ ही (बहुत संभव है) कविता में निहित कवि के मानस-परिवेश को वह रचना-प्रक्रिया और आस्वाद के धरातल से जोड़कर देख सकेगा।

संचयन से पूर्व पुस्तक में भूमिका के रूप में ‘अज्ञेय की जीवन यात्रा’ शीर्षक से विद्यानिवास मिश्र ने कवि के जीवनी पक्ष को रागात्मक विवेक से प्रस्तुत किया है और अज्ञेय के कवि-कर्म वाले पक्ष में रमेशचंद्र शाह ने गंभीर अध्ययन और विश्लेषण के साथ अपनी मान्यताएं रखी हैं। अज्ञेय के व्यक्तित्व और क्रमिक जीवन का विवरण देने के साथ-साथ विद्यानिवास जी जीवनी पक्ष में अज्ञेय के काव्य-वैशिष्ट्य और विश्लेषण को भी जहां-तहां रेखांकित करते चलते हैं। यह विश्लेषण उन्हें अनायास आलोचक-कर्म की ओर भी प्रवृत्त करता है। यही कारण है कि विद्यानिवास मिश्र आरंभिक और उत्तर अज्ञेय में तुलना भी कर बैठते हैं। इसमें संदेह नहीं कि उन्होंने कवि के व्यक्तित्व और कृतित्व को गहन अध्ययन और धैर्य के साथ जिस तरह पाठकों के समक्ष प्रस्तुत किया है, उसके लिए हमारी भाषा में यही कहा जाता रहा है कि कवि के भीतर पंडित जी डूबकर, रच-बसकर, गहरे पानी पैठ मोती निकालकर लाए हैं। शायद उनसे हिंदी पाठक-समाज व आलोचक, शोधार्थी वर्ग को कवि की कविता के क्रमिक विकास के अध्ययन-विश्लेषण में मदद मिल सके। अध्ययन के इस रागात्मक लगाव को व्यक्त करने के लिए एक और पद याद आ रहा है—‘परकाया प्रवेश’। लेकिन विवेकवान पाठक इस रागात्मक आसक्ति के बाद यह भी देखना चाहता है कि

(आलोचक) डूबकर उबरे भी। और उबरकर वह जो मोती लाए, पाठक उनकी परख भी करना चाहता है।

पुस्तक की भूमिका में विद्यानिवास जी एक जगह कहते हैं—‘यदि उनकी कविताओं में छायावाद की गूंज मिलती है तो वह अभिव्यक्ति के धरातल पर है, कथ्य के धरातल पर नहीं। इन कविताओं में अव्यक्त की छाया पकड़ने का कोई आग्रह नहीं है। व्यक्त गोचर संसार के सौंदर्य का आकर्षण है, उनकी समस्याओं के समाधान के लिए चिंता है, नए प्रयोग का (चाहे कर्म-क्षेत्र में चाहे रचना-क्षेत्र में) साहस दिखाई पड़ता है, यह सब इसका प्रमाण है कि अज्ञेय छायावादी युग में पैदा हुए हैं, पर वह छायावाद की उपज नहीं हैं। वह उपज हैं तो छायावादी पूर्व की कविता की उपज हैं, क्योंकि वह कविता अपनी संस्कृति की चेतना की कविता थी और उस चेतना का सबसे मुख्य अभिलक्षण था संस्कृत साहित्य की व्यापक विश्व-दृष्टि की पहचान।’ (*अज्ञेय काव्य स्तबक*, पृ. 27) यह पंक्ति गौरतलब है : ‘उनकी कविताओं में छायावाद की गूंज मिलती है तो वह अभिव्यक्ति के धरातल पर है, कथ्य के धरातल पर नहीं।’—इस वाक्य में ‘अभिव्यक्ति’ और ‘कथ्य’ पदों पर ध्यान दीजिए। क्या अभिव्यक्ति कोई ऐसी वस्तु है जिसका कथ्य से दूर-दूर तक कोई लेना-देना नहीं होता। अभिव्यक्ति ही वह माध्यम है जिसमें कथ्य का रूप संप्रेषित होता है, यानी काफी दूर तक कथ्य के रूपायन में ही अभिव्यक्ति निहित है। यदि मान भी लें कि अभिव्यक्ति संपूर्ण रूप में वस्तु की न होकर काव्य-व्यक्तित्व की होती है, तब भी तो कथ्य (अंतर्वस्तु) ही अभिव्यक्ति पाता है। दूसरे यह कि अभिव्यक्ति का वह कौन-सा धरातल है जिसमें कथ्य का धरातल शामिल (हिस्सेदारी या संस्पर्श) नहीं होता। या फिर पंडित जी यह बतलाने की भी कृपा करते कि अज्ञेय की अभिव्यक्ति का धरातल तो छायावादी था, कथ्य का धरातल कौन-से तल (या अतल!) का था।

कथ्य का धरातल छायावादी संस्कार-शैली से नितांत अछूता था? जिस छायावाद में पंत, निराला और प्रसाद जैसे कवि हुए (यहां इन कवियों का महत्व, साहित्यिक अवदान और वैशिष्ट्य अथवा काव्य-उत्कर्ष दिखाना न अभीष्ट है और न ही उसके लिए यहां अवकाश) उस छायावाद की उपज होना इतना हेय क्यों! उस छायावाद से अपना संबंध जोड़ते हुए नया कवि अपने को गैलड़ क्यों समझता है।

इसी संदर्भ में वह अगले वाक्यों में कहते हैं, ‘वे उपज हैं तो छायावाद पूर्व की कविता की उपज हैं, क्योंकि वह कविता अपनी संस्कृति की चेतना की कविता थी ...।’ यानी मिश्र जी को ‘छायावाद पूर्व की कविता’ तो ‘अपनी संस्कृति की चेतना की कविता’ दिखाई पड़ती है और छायावादी कविता? क्या छायावादी कविता पराई चेतना की कविता थी। जिस छायावादी कविता

में *कामायनी* जैसा अपने युग का अप्रतिम महाकाव्य रचा गया, जिस छायावादी कविता में 'जागो फिर एक बार', 'बादल राग', 'वह तोड़ती पत्थर', 'सरोज-स्मृति', 'राम की शक्ति पूजा', 'तुलसीदास', 'प्रलय की छाया' या 'शेर सिंह का शस्त्र समर्पण' या प्रसाद के राष्ट्रीय व सांस्कृतिक उद्बोधनपरक गीत आदि-आदि हैं, वह क्या अपनी संस्कृति की चेतना की कविता के रूप में नाकाफी जान पड़ती है। छायावादी काव्य में सब कुछ अरूप-अगोचर रहस्यमय अथवा अशरीरी और रूमानी था और इसी अतिरेकवादी दृष्टि के चलते छायावादी काव्य में अपनी संस्कृति की चेतना नहीं थी—ऐसी बात कोई कैसे कह सकता है!

विद्यानिवास मिश्र 'अपनी संस्कृति की चेतना' का पहलू बनाए के लिए जिस 'भाई' (अज्ञेय) की वकालत करते हैं और छायावादी कविता पर अपनी संस्कृति की चेतना की कविता नहीं होने का आरोप लगाते हैं, उसी अज्ञेय की छायावादी कवि निराला की 'तुलसीदास' कविता के संदर्भ में यह मुक्त कंठ से की गई प्रशंसा ध्यान देने योग्य है—'... 'तुलसीदास' जब-जब पढ़ने बैठता हूँ तो इतना ही नहीं कि एक नया संसार मेरे सामने खुलता है, उससे भी विलक्षण यह है कि वह संसार मानो एक ऐतिहासिक अनुक्रम में घटित होता हुआ दीखता है। मैं मानो संसार का एक स्थिर चित्र नहीं, बल्कि एक जीवंत चलचित्र देख रहा होता हूँ। ऐसी रचनाएं तो कई होती हैं जिनमें एक रसिक हृदय बोलता है। बिरली ही ऐसी रचना होती है जिसमें एक सांस्कृतिक चेतना सर्जनात्मक रूप में अवतरित हुई हो। 'तुलसीदास' मेरी समझ में ऐसी ही एक रचना है। उसे पहली ही बार पढ़ा तो कई बार पढ़ा।' (स्मृति लेखा: पृ. 62)

इसी पुस्तक के जीवनी-भाग में विद्यानिवास जी ने अज्ञेय के जन्म और बचपन की शिक्षा-दीक्षा से लेकर बहुमुखी व्यक्तित्व के विकास का ग्राफ सार-संक्षेप और संकेत में ही सही, बहुत अच्छे ढंग से दिखलाया है। आरंभिक और उत्तरवर्ती कवि अज्ञेय का रचनात्मक विश्लेषण करते हुए वह कवि के अनुभव, भाषा और चिंतन और चिंतन स्तर पर उत्तरोत्तर उन्हें एक सहजता की तरफ बढ़ते हुए दिखलाते हैं। इसी संदर्भ में वह लिखते हैं—'प्रारंभ की रचनाएं अध्ययन की गहरी छाप अंकित करती हैं या प्रेरक व्यक्तियों से दीक्षा की गरमाई का स्पर्श देती हैं। उत्तरवर्ती रचनाएं निजी अनुभव की परिपक्वता की खनक देती हैं और साथ ही भारतीय विश्व-दृष्टि की स्निग्ध शीतल ज्योति से तादात्म्य का बोध कराती हैं। ... इसके साथ ही कवि की भाषा भी तरलतर होती जाती है, सघनता खोती जाती है...' (पृ. 39-40)। उपर्युक्त उद्धृत अंश से काफी दूर तक सहमत होते हुए भी अंतिम पंक्ति ध्यान में अटकती है—अटकती क्या लगभग खटकती-सी है। *अरी ओ करुणा प्रभामय* से लेकर *कितनी नावों में कितनी बार* तक की रचनाओं को अज्ञेय की काव्य-यात्रा का तीसरा चरण माना जा सकता है (जैसा कि विद्यानिवास जी स्वयं मानते हैं : संदर्भ देखें : *आज के लोकप्रिय हिंदी कवि* - 10 अज्ञेय, पृ. 34) और चौथा चरण *पहले मैं सन्नाटा बुनता हूँ* तक, अर्थात् उत्तरवर्ती अज्ञेय का प्रस्थान बिंदु *बावरा अहेरी* के बाद से यदि मान लें तो क्या उपर्युक्त अंतिम पंक्ति में भाषा के संदर्भ में कही गई बात में निहित आशय का अर्थ यह लिया जाए कि *आंगन के पार द्वार* और उसके बाद अज्ञेय की काव्य भाषा में सघनता खोती जाती है। दूसरी बात

यह कि क्या तद्भव भाषा की ओर झुकना मात्र, तरलतर होना है। काव्य भाषा के संदर्भ में अब्बल तो यह 'तरलतर' होते जाना एक वायवीय-सी धारणा जान पड़ती है। जिस भाषा के बारे में अज्ञेय इतनी गंभीरता से चिंतन करते हैं और कवि होने के नाते, उसी कवि की भाषा पर इतने चलताऊ ढंग से बात करना अज्ञेय के कवि व्यक्तित्व के साथ अन्यायपूर्ण ही नहीं, लगभग मखौल जैसा है।

कितनी नावों में कितनी बार संग्रह विद्यानिवास मिश्र को बहुत महत्वपूर्ण जान पड़ता है। कई दृष्टि से वह इस संग्रह की कविताओं को अज्ञेय की काव्य-यात्रा के एक महत्वपूर्ण विकास के रूप में लक्ष्य करते हैं। इस संग्रह की भाषा, मिथक और चिंतन व अनुभावना के स्तर पर सनातन की तलाश को रेखांकित करते हुए वह कहते हैं—

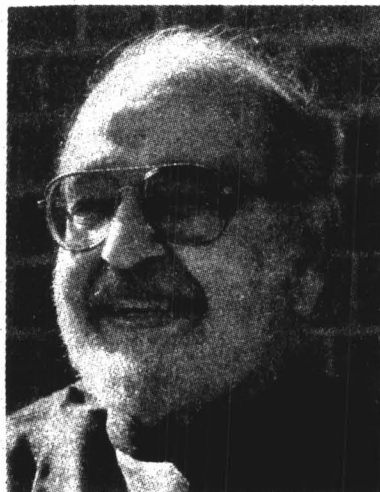
'कितनी नावों में कितनी बार संग्रह, जो भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा पुरस्कृत हुआ, अनेक अर्थों में *आंगन के पार द्वार* से एकदम कुछ अलग है। एक तो इनमें भाषा अधिक सरल हो रही है और शब्द ठेठपन की ओर जा रहे हैं। ...

'दूसरे, उनमें क्लासिक गुणवत्ता आने लगी है। ... तीसरे वैशिष्ट्य यह दिखता है कि उनके चिंतन और अनुभावना, दोनों में सनातन की तलाश शुरू हो गई है। इसका बीज *आंगन के पार द्वार* से पड़ गया था, पर इसका अधिक सहज प्रस्फुटन *कितनी नावों में कितनी बार* में हुआ।' (अज्ञेय : *काव्य स्तबक*, पृ. 37-38) काश सनातन के स्वरूप को स्पष्ट किया जाता और संग्रह की कविताओं के संदर्भ में रखकर कुछ उदाहरण दिए जाते तो बेहतर होता। बहरहाल कि उपर्युक्त संदर्भ में कहे गए इन विचारों पर मैं अपनी कोई टिप्पणी दूँ, बेहतर होगा कि कवि और आलोचक अशोक वाजपेयी इस सिलसिले में क्या कहते हैं, सुना जाए—'अज्ञेय के नए कविता संग्रह *कितनी नावों में कितनी बार* का मुहावरा उत्सवधर्मी है। भाषा पारंपरिक बिंबों और क्लासिकल मुद्राओं के सहारे गुंथी गई है। काव्य-संसार मिथिकल-सा है, लेकिन उनमें न तो मिथकों की तात्कालिक उद्दामता है और न ही उसकी सघन मानवीयता। बल्कि वह एक ऐसा संसार है जिसमें मानवीय उपस्थिति क्षीण है। 'मैं तो कब का दिया जा चुका हूँ' इन कविताओं का जैसे स्थायी भाव ही है।' आगे देखिए—'दरअसल अज्ञेय की दुनिया नाटकहीन और हवाई-सी हो गई है। इसका सीधा उदाहरण उनके बिंब हैं : वह ज्यादातर पारंपरिक और अवशिष्ट सामान्य हैं। उनमें न तो निजता है और न ही ठोसपन। बल्कि इस दृष्टि से सारे संग्रह में किसी तरह की ताजगी का और

इसलिए सारी क्लासिकल मुद्राओं के बावजूद भाषा में किसी रचनात्मक उत्तेजना का नितांत अभाव है।' (फिलहाल : पृ. 84) अब जरा अंतर्वस्तु और भाषा के पारस्परिक संबंधों पर भी उन्हीं की यह टिप्पणी:

'बार-बार कविताओं में आत्मदान की थीम उभरती है पर यह आत्मदान कविताओं की भाषा, उसकी प्रतीक-व्यवस्था में घटित नहीं होता : भाषा उसका वक्तव्य-भर है। ... भाषा में और उसमें आयोजित अनुभवों में कहीं कोई छटपटाहट नहीं है।' (वही, पृ. 85)

और अंत में इन पंक्तियों को पढ़ने की जहमत और दे रहा हूँ : 'अज्ञेय की एक समय की संस्कारी भाषा प्रसंगहीन परिपाटी बनकर बची है। कुल मिलाकर संग्रह थके और क्षीणशक्ति कवि की रचनाओं का ढेर-भर है। उसमें अज्ञेय के पिछले



कविता संग्रह *आंगन के पार* द्वारजैसा व्यक्तित्व भी नहीं है। यह संग्रह पिछले की परंपरा को किसी महत्वपूर्ण ढंग से आगे नहीं बढ़ाता, बल्कि उसी की लीक पीटता है। *कितनी नावों में कितनी बार* पढ़कर चिढ़ भी होती है और ऊब भी : आज की कविता के संदर्भ में वह हाशिये पर की कविता का संग्रह है।' (संदर्भ वही, पृ० 89) इससे आगे एक कवि दूसरे कवि के बारे में क्या सोचता है वे आगे वाली पंक्तियां आप स्वयं पढ़ें : बात ही कुछ ऐसी है।

अज्ञेय : काव्य स्तबक में अज्ञेय के कवि-कर्म का उद्घाटन करते हुए लगभग आरंभ में ही रमेशचंद्र शाह कहते हैं कि 'अज्ञेय के काव्य में अक्सर प्रयुक्त होने वाला यह 'मौन' शब्द कितना अर्थगर्भ है।' लेकिन अपने पूरे लेख में इस 'कितना' की थाह नहीं ले सके। इस 'अर्थगर्भ मौन' को कूतने में क्या शाह जी समर्थ नहीं हैं। जिस अर्थगर्भ मौन पर अज्ञेय इतना जोर देते रहे और उसी के दूसरे सिरे, यानी कविता में संप्रेषणीयता वाले पक्ष को प्रकारांतर से नए-नए कोण से उठाते रहे, उसी पक्ष के मौन को उद्घाटित करने में शाह जी इतनी कृपणता क्यों दिखलाते हैं। मौन के संदर्भ में वह बहुत चलताऊ ढंग से लेख के आरंभिक छोर को आखिरी सिरे में बांध लेने की हड़बड़ी में अज्ञेय की 'सभी तो गूंगे हैं' (ऐसा कोई घर आपने देखा है) शीर्षक कविता की इन पंक्तियों को रेखांकित करते हैं —

सभी तो गूंगे हैं पर एक
निकलता है जो अपने गूंगेपन को पहचानता है
उसका दर्द बोलता है और उसमें
सब अपनी वाणी पहचानते हैं।

इस कवितांश को उद्धृत करने के बाद वे मौन का माहात्म्य इन शब्दों में बतलाते हैं - '... क्या यह आकस्मिक संवेग भर है कि अज्ञेय की जिस कविता के जिक्र से हमने शुरुआत की थी, उसमें भी इसी गूंगेपन की - नई व्यंजना को संभव करने वाले मौन की पहचान बोली थी। मौन भी अभिव्यंजना है - जितना तुम्हारा सच है, उतना ही कहो कहने वाले कवि को उसकी समूची काव्य-साधना के आर-पार क्या यही अभिप्राय एक आलोक-वलय की तरह नहीं घेर लेता?' सिर्फ 'आलोक वलय' वाली शब्दावली कहां तक साथ देगी। यह तो 'नयनों का नयनों से गोपन प्रिय संभाषण' जैसी स्थिति हुई। इस मौन के सामाजिक सरोकार क्या थे? या बृहत्तर सामाजिक संदर्भों और कवि की वैयक्तिक काव्यानुभूति के बीच के मौन के अंतर्संबंधों वाले पक्ष पर शाह जी चुप्पी क्यों साध लेते हैं। न सही सामाजिक-सांस्कृतिक अंतर्संबंध, कम से कम अज्ञेय के कवि-कर्म और उनकी रचना-प्रक्रिया के संदर्भ में काव्यानुभूति की बनावट तथा उसको अभिव्यंजित करने वाले भाषिक रूपांतरण के अंतर्गत मौन कैसे 'भाषा में निहित संजीवनी शक्ति का अविष्कार' कर सकता है—कुछ इसी पर रोशनी डालते।

भाषा में मौन (अर्थगर्भ मौन का उपयोग) की तरफ जाने के प्रबल आग्रह का एक छोर कहीं न कहीं रहस्यवादी धारा की ओर भी संकेत करता है। रहस्यवाद की इस धारा ने 'साहित्य और समाज में बड़ी क्रांतिकारी भूमिका पूरी की थी। मनुष्य में ब्रह्म के दर्शन करके कवि ने मनुष्य मात्र की समानता की घोषणा की थी, धर्म, संप्रदाय, वर्ण, मत-मतांतर आदि के भेदों का विरोध करके मानवता की प्रतिष्ठा की थी।' (रामविलास शर्मा : *नई कविता और अस्तित्ववाद*, पृ. 77) मौन के आग्रह और नए काट की इस रहस्य भावना के पीछे शाह जी को उनके काव्य में बस 'आलोक वलय' ही दिखलाई पड़ा, या कि मनुष्य और मनुष्य के संबंध और सामाजिक यथार्थ के ज्वलंत पक्ष भी।

मैं दो-टूक कहना चाहता हूं कि भाषा और शिल्प के स्तर पर जिस मौन का प्रबल आग्रह रहा है, उस अंतर्वस्तु की सामाजिक उपादेयता या

ऐतिहासिक संदर्भों में उसकी प्रगतिशील भूमिका की थाह लेने की ओर से आंखें क्यों फेर ली गईं। बेहतर होता कि वे मौन के संदर्भ में 'विराट से साक्षात्कार के क्षण' तथा 'ममू और ममेतर' के अंतःसंबंधों का विश्लेषण तह में जाकर करते तो और बेहतर होता।

इसी पुस्तक की भूमिका में विद्यानिवास मिश्र का एक वाक्य है—'आरंभ के पच्चीस वर्ष जेल में रहने तक एकांत स्वाध्याय देश सेवा के उत्पाप और प्रचंड भावोच्छल प्यार के वर्ष रहे।' (पृ. 27) मिश्र जी की भाषिक मेधा और वाक् सिद्ध चातुर्य ने अज्ञेय को पच्चीस वर्ष तक जेल भेज दिया। भाषा के प्रति अतिरिक्त मोहग्रस्तता और 'सजगता' के चलते इस तथ्यात्मक भूल ने असंभव को संभव बना दिया। भूमिका में कहीं-कहीं भाई के प्रति विवेक से ज्यादा रागात्मक उछाह अधिक दिखाई पड़ता है। जब कभी यह रागात्मक उछाह निर्बंध होकर प्रवाहित होता है तो भाषा साथ नहीं देती।

निसंदेह अज्ञेय बड़े कवि हैं। कविता और विशेषतया नई कविता में उनका काव्य-व्यक्तित्व ऐसा है, जिसकी अनदेखी या अवहेलना करना संभव नहीं। न सिर्फ संभव है बल्कि ऐसा करना अन्यायपूर्ण और सचमुच दुखद होगा। कविता की दुनिया में वह एक भव्य और आकर्षक व्यक्तित्व रहे। साहित्य के क्षेत्र में उनकी कुछ उपलब्धियों को लेकर रीझा भी जा सकता है। इसमें संदेह नहीं कि जीवन के प्रति जिस आस्था को शब्द-शिल्प और सच्चे स्वर-सिद्ध-रूप में ढालकर अज्ञेय ने भाव-चिंतन का रूपायन किया, वह स्मरणीय ही नहीं, स्मृणीय भी है। लेकिन उनकी महानता के मर्म को जतलाते हुए जब विद्यानिवास मिश्र जी कदाचित रीझ-रीझ उठते हैं और महानता के मर्म का उद्घाटन इन शब्दों में करते हैं—'वे (अज्ञेय) उन्नीस सौ छियालीस तक नए रचनाकारों के आराध्य अंगुआ हो चुके थे।' (अज्ञेय : *काव्य स्तबक*, पृ. 27)—तब भाई के प्रति यह आसक्ति अतिरेक (जो छलक-छलक पड़ता है) सोचने के लिए बाध्य करता है। क्या अज्ञेय के बहुआयामी व्यक्तित्व से अभिभूत होकर उन्हें इसी पुस्तक में एक प्राकृत गाथा याद हो आती है : 'क्या बात है कि सारी कहानियां उसी से इस गांव में शुरू होती हैं और उसी में आकर समाप्त होती हैं, क्या इस गांव में ले-देकर एक यही युवा पुरुष है।' (वही, पृ. 38)

इतना ही नहीं, रमेशचंद्र शाह भी अज्ञेय के काव्य-मर्म को समझने वाले सिर्फ विद्वान ही नहीं, आधुनिक भी हैं। इसी पुस्तक में वह एक स्थान पर कहते हैं—'अज्ञेय से अधिक संस्कृति की चिंता किसी ने न की होगी।' (वही, प्र. 53) ऐसे निर्णायक वाक्य लिखते समय इस विहंगम दृष्टि डालने से पहले 'लघुता की ओर साहित्यिक दृष्टिपात' भी कर लिया होता। आलोचक-विद्वान को कम से कम कविता के इतिहास में आगे-पीछे भी एक नजर डाल लेने भर की जहमत उठा लेनी चाहिए। इस विहंगम दृष्टि के पश्चात सिंहावलोकन भी कर लेते तो सहज ही अपने उस लिखे वाक्य के साथ सृजना कि छायावाद में क्या प्रसाद जी ने कम संस्कृति की चिंता की है। दिनकर और निराला को क्या भुला दिया जाएगा। और मुक्तिबोध को जिन्होंने संस्कृति की झूठी चिंता करने वालों के छद्म संस्कृति मोह के खाली कनस्तरो को न केवल चिंतनपरक लेखों में, वरन् अपनी कविताओं में बेनकाब करके रख दिया—यह बेनकाब करना भी संस्कृति की चिंता करना ही है।

कभी-कभी लगता है संस्कृति का ढोल सामान्य जन और लोक जीवन से बलात् अपहृत कर, उस पर अभिजन कुलीनतावादी और पश्चिमी कला के भारतीय भोंडे नक्काल काबिज हो गए हैं। इतना ही क्यों, यह तथाकथित आधुनिक, अभिजात, अतिबौद्धिक अबूझ चिंतक वर्ग संस्कृति को उसके हाथ में खिलौने की तरह देकर-बहलाकर अपने कर्म की इतिश्री समझता है और

अपने को गौरवान्वित भी।

तथ्यात्मक लगाव कितना गहरा है, अब जरा इसकी भी एक बानगी देख लीजिए। *आंगन के पार द्वार* संकलन में अज्ञेय जी की एक कविता है—‘चिड़िया ने ही कहा।’ *अज्ञेय : काव्य स्तबक* में भी इस कविता (‘चिड़िया ने ही कहा’) को शामिल किया गया है जो अधूरी छाप दी गई है। कविता का यह अंतिम अंश—

कहीं बड़े गहरे में
सभी स्वर हैं नियम,
सभी सर्जन केवल
आंचल पसार कर लेना

इतने महत्वपूर्ण कवि के इतने महत्वपूर्ण विद्वानों द्वारा तैयार किए गए, इतने महत्वपूर्ण संकलन में ‘कलित’ होने से रह गया। और ध्यान दिया जाए कि यह संकलन साहित्य अकादमी ने (आग्रह पर) प्रकाशित किया है।

‘मैं वहां हूँ’ कविता का शीर्षक ‘मैं कहां हूँ’ छप गया है। प्रूफ संबंधी कुछ और भी भूलें रह गई हैं। निस्संदेह *अज्ञेय : काव्य स्तबक* अज्ञेय की कविताओं का एक बेहतर संकलन बन पड़ा है, लेकिन अज्ञेय की कविता में गहरी अनुरक्ति रखने वाले पाठकगणों को कुछ कविताओं का अभाव खलने की सीमा तक खटकेंगा। संकलन में यदि ‘पराजय है याद’, ‘छंद है यह फूल’ (हरी घास पर क्षण भर) ‘हवाएं चैत की’, ‘कांगड़े की छोरियां’ (बावरा अहेरी), ‘दूज का चांद’, ‘सरस्वती पुत्र’, ‘सांस का पुतला’ (*आंगन के पार द्वार*), ‘जीवन मर्म’ (*सागर मुद्रा*), ‘औपन्यासिक’ (*क्योंकि मैं उसे जानता हूँ*) तथा ‘भैंस की पीठ पर’ (*नदी की बांक पर छाया*) आदि कविताएं भी शामिल की जातीं, तो निश्चित रूप से संकलन और बेहतर होता।

अज्ञेय : वागर्थ का वैभव ² यूँ कहने को हीरानंद शास्त्री की स्मृति में प्रवर्तित व्याख्यानमाला की चौदहवीं कड़ी के अंतर्गत दिए गए चार व्याख्याओं का संकलित पुस्तक रूप है। लेकिन वस्तुतः यह लंबे अरसे तक अज्ञेय के रचना-कर्म और चिंतन-कर्म से रमेशचंद्र शाह के गहरे रागात्मक लगाव और संसर्ग का परिणाम है, जो इस पुस्तक में उपलब्धि की तरह दिखाई पड़ता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि अज्ञेय, रमेशचंद्र शाह के प्रिय रचनाकार हैं। वह न केवल अज्ञेय के कवि-कर्म पर फिदा हैं, बल्कि उनके चिंतन-कर्म को लेकर भी अभिभूत दिखाई पड़ते हैं। कुल मिलाकर उनकी स्थिति रीझने जैसी है। रीझने की इस स्थिति से और कुछ हो या न हो, कम से कम अज्ञेय के प्रति गहरी आस्था और संपृक्ति तो अवश्य प्रमाणित होती दिखती है। रागात्मक आसक्ति व निष्ठा और इस कदर—इस जमाने में अब देखने (- भर) को कहां मिलती है।

पुस्तक में ‘पुरोवाक्’ के बहाने से रमेशचंद्र शाह, अज्ञेय के रचना-कर्म के अध्ययन-आलोचन कर्म से जुड़ी कुछ महत्वपूर्ण समस्याओं को अपने स्वभाव-आग्रहों और आलोचक की जो अपनी कठिनाइयां होती हैं, उन्हें एक प्रक्रिया के तहत संकेत रूप में सामने लाने की कोशिश करते हैं। वास्तव में एक कवि-चिंतक का संसार कैसे एक आलोचक (कवि-कथाकार भी!) के संसार में प्रवेश करता है, उसे अभिभूत करता है और वैचारिक धरातलों पर टकराता है—शाह जी ने इन सबको ‘पुरोवाक्’ में तथा अन्य अध्यायों में भारतीय और यूरोपीय चिंतनधाराओं के प्रकाश में सारमय ढंग से रखा है।

कवि रवींद्रनाथ ठाकुर और जयशंकर प्रसाद के बाद शाह जी को अज्ञेय कवि-कर्म और चिंतन के स्तर पर समान रूप से आकृष्ट करते हैं। आकृष्ट करने का एक कारण और है—अज्ञेय का जीवन और कृतित्व का बहुआयामी

स्तर पर सजग निर्वाह। अकारण नहीं है कि प्रस्तुत पुस्तक में ‘पुरोवाक्’ के लगभग आदि और अंत में प्रकारांतर से एक ही बात कही गई है—‘अज्ञेय मुझे कवि और चिंतक, दोनों ही रूपों में समान रूप से आकृष्ट करते रहे हैं और इस तरह का आकर्षण, एक ही लेखक के भीतर कवित्व और विचारक के ऐसे घनिष्ठ और उपजाऊ संबंध का अनुभव मुझे जयशंकर प्रसाद के बाद अज्ञेय के यहां ही सबसे अधिक होता रहा है।’ (पृ. 11) और ‘पुरोवाक्’ के अंत में वह कहते हैं : ‘कहना न होगा कि स्वयं अज्ञेय का जीवन और कृतित्व इस दायित्व के सजग निर्वाह का हमारे समाज में एक बहुत बड़ा और प्रेरक उदाहरण रहा है : अपने बहुआयामी चरित्र को देखते हुए संभवतः आधुनिक भारतीय साहित्य में रवींद्रनाथ और जयशंकर के बाद सबसे प्रेरक उदाहरण। प्रस्तुत व्याख्याओं के निमित्त से मेरा प्रयत्न अज्ञेय के इसी वैशिष्ट्य को रेखांकित करने का रहा है।’ (पृ. 18)

ले किन अज्ञेय के कृतित्व की परिधि का व्यापकत्व, वैविध्य और विपुलता शाह जी के लिए एक समस्या बन जाता है। समस्या इसलिए भी कि ‘इस सारे वैविध्य में एक गहरी अंतःसंगति दिखती है : सारी चीजें आपस में जुड़ी हुई—एक-दूसरे को पुष्ट और आलोकित करने वाली हैं। ऐसे में जो भी चौखटा सामने रखो, वही अधूरा और असंतोषजनक लगने लगता है।’ (पृ. 12-13) उनकी समस्या सिर्फ इतनी ही नहीं है कि वैविध्य और विपुलता में निहित अंतःसंगति को किसी फ्रेम में कैसे समेटा जाए, बल्कि इससे बड़ी निजी कठिनाई यह है कि वह क्या सोचते हैं और क्यों सोचते हैं, इसका पता उन्हें लिखते-लिखते ही लगता है।

बहरहाल! प्रस्तुत पुस्तक में अज्ञेय की चिंतन-प्रणाली को उनके कवि-कर्म के परिप्रेक्ष्य में ही विश्लेषित करने और अंतःसंगति दिखाने की चेष्टा की गई है। यानी रमेशचंद्र शाह का अध्ययन, आलोचन और निष्कर्ष मुख्यतः अज्ञेय के कवि-चिंतक रूप तक सीमित है। अतः जाहिर है कि पूरी पुस्तक में (अथवा व्याख्याओं में) अज्ञेय के कहानीकार व उपन्यासकार व्यक्तित्व को हठधर्मिता की हद तक अध्ययन-आधारों के आस-पास तक फटकने भी नहीं दिया गया है। भूले से कहीं उपन्यास-कहानियों का जिक्र-भर आया हो तो आया हो।

अज्ञेय के चिंतन पक्ष के विकास-क्रम को उनके कवि-कर्म के साथ श्लिष्ट भाव से चार अध्यायों से बने चौखटे (फ्रेम) में गूँथा गया है। अज्ञेय की काव्य-पंक्तियों को ही चारों अध्यायों के नामकरण का आधार बनाया गया है। साथ ही इन अध्यायों में अज्ञेय के दर्शन-चिंतन की रेखा को प्रतीक रूपों में लक्षित करते हुए हर अध्याय को एक वृहत्तर रूप में समेटने के लिए अलग-अलग शीर्षक भी दिए गए हैं, जो कवि अज्ञेय की काव्य-प्रवृत्तियों व चिंतन-प्रवृत्तियों को भी व्यंजित करते प्रतीत होते हैं।

पहले अध्याय—‘आत्म-प्रत्यभिज्ञा की नई राह’—में वह, कवि की प्रश्नाकुलता का स्वरूप कैसे पूर्ववर्ती कवियों से भिन्न और जटिलतर है, दिखलाते हैं। भिन्न और जटिलता का आधार शाह जी आधुनिक, वैज्ञानिक और दार्शनिक विचारधाराओं से भरपूर टकराहट में मानते हैं। इसके लिए उनकी समस्या है कि अज्ञेय महज ‘इमोशन’ को ही काफी नहीं मानते, वह ‘सिग्निफिकेंट इमोशन’ चाहते हैं, जिसका परिणाम उनके काव्य-चिंतन में ‘सौंदर्य-बोध’ और ‘शिवत्व-बोध’ की दुहरी साधना के रूप में आग्रह के साथ प्रतिफलित होता दिखाई पड़ता है। इसी अध्याय में वह उनकी आरंभिक कविता के दौर में आस्था और विद्रोह के वादी-संवादी स्वर को तरह-तरह से रूपायित करते हैं और इसी को प्रमाणित करने के लिए अज्ञेय के आरंभिक काव्य को कवि जयशंकर प्रसाद की ‘चिंता’ और अज्ञेय की ‘चिंता’ तथा समान बिंब सृष्टि

के समाविष्ट रूपों की ओर संकेत करते हैं, जिसे निस्संदेह अज्ञेय के काव्य-विश्लेषण के संदर्भ में महत्व का माना जाना चाहिए। लेकिन अज्ञेय और प्रसाद (या छायावादी कविता) के भाव-बोध और दार्शनिकता की भिन्न भावभूमि का अंतर वह अंततः विजयदेव नारायण साही की इस मान्यता (दूर तक सहमत होते हुए ही सही) को ही आधार रूप में स्वीकृत करते हैं—‘प्रसाद अनुभूति को दर्शन में घुलाने वाले कवि हैं, जब कि अज्ञेय ने दर्शन को अनुभूति में घुलाने की राह निकाली।’ (पृ. 29) ‘आत्म-प्रत्यभिज्ञा की नई राह’ के अंतर्गत जहां अज्ञेय के आरंभिक कविता संसार—‘चिंता’, ‘भग्नदूत’, ‘इत्यलम्’ - के माध्यम से छायावादी काव्य-भाषा से मुक्त होने की छटपटाहट तथा ‘हरी घास पर क्षण भर’ में व्यक्त नए आधुनिक भाव-बोध की पहल को लक्षित किया गया है, वहीं ‘बावरा अहेरी’ तक आते-आते कलात्मक और नैतिक व्यक्तित्व की संश्लिष्ट एकता को साधने के लिए सांस्कृतिक व्यक्तित्व की खोज को भी बिंब से प्रतीक सृष्टि की ओर उत्तरोत्तर अग्रसर होने की प्रवृत्ति को भी शाह जी ने सोदाहरण प्रस्तुत किया है।

दूसरे अध्याय—‘अकेले का आत्मदान’—में ‘अरी ओ करुणा प्रभामय’ से लेकर ‘महावृक्ष के नीचे’ तक की काव्य-यात्रा को केंद्र में रखते हुए प्रतीकों के अर्थ विस्तार को तुलनात्मक स्तर पर अज्ञेय के चिंतन के साथ न्यस्त कर बखूबी रखा गया है। प्रस्तुत अध्याय में ‘नाच’ शीर्षक कविता को अर्थ के जिस संपन्न रूपों में विश्लेषण अथवा पहचान-संदर्भों में रखकर कविता के मर्म और अज्ञेय के चिंतन-सूत्रों को खोलने-व अंतःसंगति तलाशने की टैकनीक अपनाई गई है, वह न केवल सराहनीय है, अपितु शाह जी के अज्ञेय संबंधी गहन अध्ययन-अनुराग संपृक्ति और अज्ञेय के अधीस्तु पाठक के प्रति प्रेरणा भी जगाती है। तीसरे अध्याय—‘आलोचक राष्ट्र और भारतीय आधुनिकता’—में अज्ञेय के चिंतनपरक टीपों के संकलन—*भवन्ती, अंतरा व शाश्वती* (अंतःप्रक्रियाएं)—व *आत्मनेपद, त्रिशंकु, स्रोत और सेतु* तथा *संवत्सर* जैसी कृतियों के बहाने राष्ट्र-राष्ट्रीयता, व्यक्ति-समाज, धर्म-संस्कृति, मानव-बोध व नैतिक-बोध, आत्म-बोध, आधुनिकता-परंपरा व रूढ़ि जैसे विषयों पर विचारों को रखा गया है। चिंतन के इस विश्लेषण को एक ओर महात्मा गांधी, राजा राममोहन राय, रामकृष्ण परमहंस, यशदेव शल्य और योगी अरविंद जैसे भारतीय विचारकों के संदर्भों से छुआ गया है, तो दूसरी ओर इलियट, लॉरेंस, यास्पर्स, श्वाइत्जर जैसे सर्जकों के साथ-साथ मैथ्यू आर्नोल्ड, एफ.आर. लिविस, लायनेस ट्रिलिंग, आचार्य रामचंद्र शुक्ल, जयशंकर प्रसाद, विजयदेव नारायण साही आदि के साहित्यिक-सांस्कृतिक दृष्टि के आलोक में अज्ञेय के काव्य-चिंतन सरणि का जायजा लिया गया है।

चौथे अध्याय—‘अज्ञेय का स्वातंत्र्य-दर्शन’ में इतिहास-संस्कृति, परंपरा व आधुनिकता के संदर्भ में सर्जक व्यक्तित्व और उसके स्वातंत्र्य संबंधी पक्ष पर विचार किया गया है। मनुष्य होने के नाते अज्ञेय की मान्यता है : ‘... स्वाधीनता की सच्ची कसौटी मैं नहीं, ममेतर है।...’ और काव्य और चिंतन के क्षेत्र में अज्ञेय के यहां ‘स्वाधीनता की यह अवधारणा भाषा की शक्ति से जुड़ी हुई है।’ रमेशचंद्र शाह अपने गहन अध्ययन-विश्लेषण को सार-संक्षेप में रखते हुए कहते हैं कि ‘अज्ञेय के लिए कविता न तो आत्म-साक्षात्कार के आड़े आने वाला प्रलोभन है, न ही महज एक ‘उच्चकोटि का मनोरंजन’ है, जैसा कि इलियट ने लिखा है। अज्ञेय के लिए कविता ‘रागदीप्त सच’ ही है। (पृ. 88) स्वातंत्र्य दर्शन के बहाने से इस अध्याय में ‘आत्म-प्रत्यभिज्ञा और सांस्कृतिक अस्मिता को पुनरुज्जीवित करने अथवा ऐतिहासिक टूट-फूट और स्मृतिभ्रंश से उबारने की चिंता’ को केंद्र में रखा गया है। उक्त संदर्भ में विद्वान आलोचक ने इलियट और येट्स को भी ‘भारतीय परंपरा की बुझती

हुई जोत’ के प्रति क्षुब्ध होते दिखलाया है। इस बुझती हुई जोत का भय अज्ञेय को भी सताया होगा—प्रश्न पूछते हुए वे अरविंद और गांधी के बारे में कहते हैं कि ‘इसी शताब्दी में श्री अरविंद और गांधी ने पश्चिमी संस्कृति और सभ्यता के भीतर कितनी लंबी यात्रा की, कितनी गहरी डुबकी लगाई। वे तो अपनी अस्मिता खोने के बजाय उसे नए सिरे से उपलब्ध और परिपुष्ट करके लौटे।’ क्या अज्ञेय के बारे में भी यही सच नहीं है? ‘जब तक नहीं पा लूंगा अपने से इतर अपने को कैसे होगी मुझे अपनी भी पहचान?’ (पृ. 118-119) अज्ञेय का यह उद्धरण देने के बाद शाह की यह टिप्पणी भी कम निर्णायक नहीं है—‘यह बात इस तरह शायद न तो इलियट कह सकते थे, न येट्स। यह सिर्फ आधुनिक भारतीय कवि अज्ञेय कह सकते थे।’ (पृ. 119)

अंत में, इस पुस्तक में उद्धृत कविताओं को अज्ञेय के वैचारिक आग्रहों और चिंतनपरक सांचे के साथ-साथ चर्चा करके ही व्याख्यायित करने का प्रयास दिखलाई पड़ता है। परिणामतः विद्वान आलोचक अनचाहे ही अज्ञेय के काव्य में व्यक्ति, समाज, संस्कृति, राष्ट्र, नैतिक दायित्व, मिथ, परंपरा, आधुनिकता संबंधी अन्यान्य समस्त चिंताओं को न केवल जस का तस स्वीकार करता है, बल्कि अज्ञेय के समस्त रचना-कर्म और चिंतनपरक ढांचे की सभी वैचारिक मान्यताओं व आग्रहों को ‘जस्टीफाई’ करने पर भी जोर दिखलाई पड़ता है, बावजूद सब कुछ के पुस्तक का महत्व निस्संदेह है। □

1. **अज्ञेय काव्य-स्तबक**; संपादक : विद्यानिवास मिश्र व रमेशचंद्र शाह; साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली; पृ.सं. : 214; मूल्य : 100 रुपये

2. **अज्ञेय : वागर्थ का वैभव**; संपादक : रमेश चंद्र शाह; प्रभात प्रकाशन, नई दिल्ली; पृ.सं. : 120; मूल्य : 80 रुपये

लेखकों से

- रचना भेजने के लिए कोई शर्त नहीं है। सभी रचनाकारों का हम स्वागत करते हैं।
- रचना एक तरफ टाइप की हुई या स्पष्ट लिखी होनी चाहिए। रचना के अंत में अपना नाम व पूरा पता अवश्य लिखें।
- यदि आप अस्वीकृत रचना वापस चाहते हैं तो कृपया अपना पता लिखा, डाक टिकट लगा लिफाफा लगाना न भूलें।

संपादक

आजकल

प्रकाशन विभाग,

पटियाला हाउस

नई दिल्ली

हिंदी और कंप्यूटर

शंकर सिंह भाटिया

विश्व की विभिन्न भाषाओं में ज्ञानवर्द्धक सामग्री का भंडार है। यह ज्ञान व्यावसायिक, आध्यात्मिक, बौद्धिक लाभ पहुंचाने वाला हो सकता है। विश्व की इन सभी भाषाओं का ज्ञान किसी एक व्यक्ति को प्राप्त हो जाएगा, यह संभव नहीं है। इसे प्राप्त करने के लिए पहली समस्या विश्व के इन अलग-अलग भाषाओं के ज्ञान-भंडार को खोजने की होगी, प्राप्त हो जाने के बाद उसके अनुवाद की समस्या होगी। कल्पना कीजिए, यदि कंप्यूटर के कुंजी-पटल पर कुछ बटन दबाने भर से इच्छित सामग्री आपके कंप्यूटर के मनीटर पर आ जाए और थोड़े पाठ संसाधन के बाद सामग्री आपकी भाषा में प्रिंटर में प्रिंट होकर आपके हाथ में आ जाए!

कंप्यूटर तकनीक के इस युग में 'इंटरनेट' के जरिए पहली कल्पना तो साकार हो गई है। परंतु दूसरी कल्पना साकार करने के लिए मशीनी अनुवाद की जरूरत होगी। उदाहरण के तौर पर, अंग्रेजी का कोई पाठ कंप्यूटर में संसाधित कर उसका मशीनी अनुवाद किया जाए और मशीन उसका हिंदी अनुवाद प्रस्तुत कर दे।

मशीनी अनुवाद की यह तकनीक अभी पूरी तरह सक्षम नहीं हो पाई है। कहना न होगा कि यह तकनीक अभी प्रारंभिक अवस्था में है। इस चुनौतीपूर्ण कार्य को पूर्ण करने में कंप्यूटर वैज्ञानिक और भाषाविद् लगे हुए हैं।

यह प्राकृतिक भाषाओं के सामान्य व्याकरण से इतर ऐसे व्याकरण की मांग करता है, जिसमें संपूर्ण व्याकरण प्रणाली तथा अर्थ संरचना, सूक्ष्म नियमों, लक्ष्यों और प्रतिबंधों की शृंखला के रूप में सूत्रबद्ध हो और उसके प्रतिपादन में गणित की-सी सूक्ष्मता हो।

व्यक्त भाषा रूप और संरचना को नियंत्रित या नियमित करती है। यह जटिल प्रश्न आज कंप्यूटर-साधित भाषा कार्यक्रमों के सामने चुनौती बना हुआ है। इसलिए आज भाषा विश्लेषण के ऐसे माडलों की तीव्रता से खोज हो रही है, जिनके विवरण कंप्यूटर की बुद्धि को सहज, बोधगम्य और ग्राह्य हों।

मशीनी अनुवाद (कंप्यूटर-साधित अनुवाद) स्वयं में एक मिश्रित प्रक्रिया है, जिसमें अलग-अलग माडलों की जरूरत के अनुसार कोई भाषिक और प्रणालीगत उपकरण विकसित करने की आवश्यकता होती है। ऐसे विशिष्ट फारमेट पर आधारित व्याकरण सामग्री, जो दो भाषाओं के लिए अलग-अलग होगी और जो एक भाषा की व्याकरण प्रणाली को दूसरी भाषा की व्याकरण प्रणाली में परिणत कर सके। एक ऐसी पार्सर (पद निरूपण) प्रणाली जो वाक्य के विभिन्न घटकों को पहचान कर उन्हें विभिन्न व्याकरणिक कोटियों और शब्द-वर्गों में वर्गीकृत कर सके और जिसमें एक विशिष्ट शब्दकोश या 'थिसारस', जिसमें हर शब्द के अर्थ, संदर्भ, क्षेत्र, उसकी रूपावली, उसकी संरचनात्मक कोटियां, लक्षण तथा वाक्यात्मक संभावनाएं आदि अनेक प्रकार की सूचनाएं निहित हों।

* कंप्यूटर के भाषिक अनुप्रयोग : विजय कुमार मल्होत्रा; वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली; पृ.सं. : 274 ; मूल्य : 175 रुपये।

भाषा और कंप्यूटर के इस प्रणालीगत संबंध का अध्ययन अभिकलनात्मक (कंप्यूटेशनल) भाषा विज्ञान का एक प्रमुख विषय है, जिसमें प्राकृतिक भाषा का संसाधन कर कंप्यूटर से कई प्रकार के ज्ञानवर्द्धक कार्य संपन्न किए जाते हैं।

हिंदी में कंप्यूटर प्रणाली का सामान्य परिचय देने वाली कई पुस्तकें हैं, लेकिन अभिकलनात्मक भाषा विज्ञान या भाषा-आधारित कंप्यूटर कार्यक्रमों पर पुस्तकें न के बराबर हैं। इस परिवेश में विजय कुमार मल्होत्रा की पुस्तक *कंप्यूटर के भाषिक अनुप्रयोग* इस क्षेत्र में रचनात्मक पहल कही जाएगी।

आठ अध्यायों में लिखी गई इस पुस्तक में लेखक ने अभिकलनात्मक भाषा विज्ञान, प्राकृतिक भाषा संसाधन, कृत्रिम बुद्धि, मशीनी अनुवाद तथा संबद्ध व्याकरणिक माडलों का क्रमिक विकास प्रस्तुत किया है। लेखक ने मशीनी अनुवाद में प्रयुक्त होने वाले माडलों का संक्षिप्त परिचय देने के बाद टैग (ट्री एड्जोयनिंग ग्रामर) को अपने विश्लेषण का प्रमुख आधार बनाया है।

टैग माडल के आधार पर अमेरिका के पेंसिलवेनिया विश्वविद्यालय के कंप्यूटर विज्ञान विभाग में अंग्रेजी व फ्रांसीसी भाषाओं के पार्सर सफलतापूर्वक विकसित किए जा रहे हैं। मशीनी अनुवाद के लिए अन्य माडलों की अपेक्षा इसे अधिक कारगर समझा जा रहा है। सी-डैक पूना में भी इसी माडल के आधार पर गृह मंत्रालय के लिए एक अंग्रेजी-हिंदी अनुवाद साफ्टवेयर तैयार किया जा रहा है, जो फिलहाल कुछ खास प्रकार के प्रशासनिक पत्र-व्यवहारों के अनुवाद तक सीमित है।

लेखक के वर्षों के अनुवाद और प्रशासनिक लेखन, भाषा विज्ञान, शब्दों तथा कंप्यूटर-क्षेत्र में अनुसंधानपरक कार्यों का अनुभव पुस्तक में परिलक्षित होता है। लेखक से प्रशासनिक कार्यों में भारतीय भाषाओं, खासकर राजभाषा हिंदी की उपेक्षा की पीड़ा भी नहीं छिप पाती। दुखद स्थिति तब होती है जब वैज्ञानिक भी हिंदी भाषा के लिए साफ्टवेयर-निर्माण में हिंदी की उपेक्षा कर जाते हैं। आई.आई.टी., कानपुर द्वारा अनुसारक प्रणाली निर्माण में हिंदी व्याकरण की पुस्तकों को अनदेखा करने के प्रसंग को वह नहीं भूले हैं। लेखक को यह पीड़ा भी सालती रहती है कि प्रशासनिक तथा अनुसंधानपरक क्षेत्रों में हिंदी सहित भारतीय भाषाओं की उपेक्षा कब तक होती रहेगी, जब कि विश्व के वैज्ञानिक संस्कृत व्याकरण तथा देवनागरी लिपि को कंप्यूटर प्रणाली के सर्वाधिक अनुकूल सिद्ध कर चुके हैं।

विश्व की समस्त भाषाओं की अपेक्षा संस्कृत व्याकरण में कदाचित् कंप्यूटर प्रणाली के अनुकूल सूत्रबद्धता सर्वाधिक विद्यमान है। इसलिए अमेरिका के प्रसिद्ध वैज्ञानिक रिक ब्रिज ने संस्कृत भाषा को कंप्यूटर के लिए उपयुक्त भाषा माना है। *पाणिनि व्याकरण* के नियम इतने सूत्रबद्ध, रीतिबद्ध और क्रमबद्ध हैं कि उनसे संस्कृत भाषा के विभिन्न पक्षों को अनायास ही उजागर किया जा सकता है।

देवनागरी सहित दूसरी भारतीय लिपियां तथा भाषाएं भले ही भारतीय कर्णधारों के लिए उपेक्षा की वस्तु हों, लेकिन देवनागरी लिपि की अनंत

संभावनाओं के स्रोत उसके वैज्ञानिक स्वरूप में निहित हैं। विश्व की अनेक उन्नत भाषाओं में आज कंप्यूटर के माध्यम से वाक् संश्लेषण और अभिज्ञान के प्रयास किए जा रहे हैं। किंतु इस संदर्भ में आशातीत सफलता हिंदी में प्राप्त हुई है। यह कदाचित अन्य भाषाओं में असंभव नहीं, तो कठिन अवश्य है।

इलेक्ट्रानिक विभाग, भारत सरकार के सहयोग से आई.आई.टी., मद्रास में एक प्रणाली का विकास किया जा रहा है, जिसके माध्यम से हिंदी भाषा में उच्चारित वाक्यों को कंप्यूटर की सहायता से नागरी लिपि में अंतरित किया जाएगा। इसी प्रकार नागरी लिपि में अंकित पाठों को कंप्यूटर मनीटर में कुंजीयन करके ध्वनि में रूपांतरित किया जाएगा। हालांकि इसमें अभी आंशिक सफलता मिली है। इस सफलता का मुख्य कारण नागरी लिपि की वैज्ञानिकता है। देवनागरी हिंदी सहित कई अन्य भारतीय भाषाओं की लिपि भी है।

जहां तक भारतीय लिपियों का सवाल है, ऊपर से देखने में दसों भारतीय लिपियों में अनेक असमानताएं दिखाई देती हैं। किंतु ये सभी लिपियां ब्राह्मी लिपि से विकसित हुई हैं। इसके फलस्वरूप इनमें अंतर्निहित समानताएं भी हैं। सभी लिपियां ध्वन्यात्मक हैं और सबका वर्णक्रम भी एक-सा है। अभिकलनात्मक (कंप्यूटेशनल) दृष्टि से इस समानता के कारण ही कंप्यूटर वैज्ञानिकों ने ब्राह्मी लिपि पर आधारित दसों भारतीय लिपियों के लिए समान कोड निर्धारित किया है। इसे इस्की-8 कहा जाता है। इलेक्ट्रानिक विभाग की संस्तुति पर भारतीय मानक ब्यूरो ने इसे मानकीकृत भी कर लिया है। समान इस्की कोड के कारण आज सभी भारतीय भाषाओं के लिए समान कुंजी-पटल का विकास हो सका है। इसके फलस्वरूप भारतीय भाषाओं में परस्पर लिप्यंतरण स्वचालित तरीके से संभव हो सका है। इस परिप्रेक्ष्य में आई.आई.टी., कानपुर द्वारा तैयार अनुसारक प्रणाली (साफ्टवेयर) का काफी महत्व है।

आधुनिक कंप्यूटर का उपयोग सर्वप्रथम दूसरे विश्वयुद्ध के दौरान जर्मन सेना के गुप्त संदेशों को जानने के लिए किया गया था। एटम बम से संबंधित गणनाओं के लिए भी इसका उपयोग किया गया। किंतु उसी युग (40 के दशक) में प्रसिद्ध गणितज्ञ वारेन वीवर ने यह महसूस किया कि कंप्यूटर की तार्किक प्रणाली का उपयोग अंकीय गणनाओं के अलावा भाषा संबंधी संश्लेषण, विश्लेषण और संसाधन के लिए भी किया जा सकता है। किंतु भाषा के संदर्भ में कंप्यूटर का समुचित और सफल उपयोग तभी संभव था जब भाषाविद् एक ऐसी कलन विधि (एल्गोरिथ्म) विकसित कर लें, जिसकी सहायता से भाषिक सिद्धांतों और प्राकृतिक भाषाओं की प्रक्रियाओं को सही तौर पर वर्णित किया जा सके।

वीवर के युग में भाषा संरचना के नियम इतने रीतिबद्ध नहीं थे कि उनकी सहायता से प्राकृतिक भाषाओं का ध्वन्यात्मक, रूपात्मक और शब्दात्मक विश्लेषण असंदिग्ध रूप से किया जा सके। तब भाषा को केवल शब्द-गुच्छ मानने की भूल की गई थी, लेकिन धीरे-धीरे यह महसूस किया जाने लगा कि भाषा शब्द-गुच्छ मात्र नहीं, बल्कि अनेक जटिल व्यवस्थाओं की व्यवस्था है।

पिछले तीन दशकों में कंप्यूटर और भाषा विज्ञान, दोनों ही क्षेत्रों में इतनी क्रांति आ गई है कि अब कंप्यूटर की सहायता से भाषा संबंधी नियमों को विश्लेषित और परिभाषित करके एक ऐसी कलन विधि का विकास किया जा सकता है, जिसमें भाषा संबंधी संश्लेषण, विश्लेषण और संसाधन सरलता से किया जा सकता है।

इसमें कंप्यूटर की कृत्रिम बुद्धि का विशेष योगदान है। कृत्रिम बुद्धि विज्ञान मशीनी अनुवाद के क्षेत्र में महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहा है। लेखक ने कृत्रिम बुद्धि के विश्लेषण और भाषा विज्ञान में उसके उपयोग को भी अपनी पुस्तक में प्रचुर स्थान दिया है।

कृत्रिम बुद्धि एक ऐसा विज्ञान है, जिसके अंतर्गत मशीन को तर्क करने, समस्याओं का समाधान खोजने, स्वयं निर्णय लेने और परीक्षण व अशुद्धि प्रणाली (ट्रायल एंड एरर मैथड) से स्वयं सीख लेने योग्य बनाया जाता है। मानव की विशेषता भी सामान्यतः व्यवहार-क्षेत्र के उसके गहन ज्ञान, विश्व ज्ञान, अन्वेषात्मक वृत्ति और स्वानुभव पर निर्भर करती है। विशेषज्ञ प्रणाली, प्राकृतिक भाषा संसाधन, वाक् संसाधन (स्पीच सेंथाइसिस), दृश्य संसाधन (विजन प्रोसेसिंग) आदि क्षेत्र कृत्रिम बुद्धि के अंतर्गत आते हैं।

इनमें प्राकृतिक भाषा संसाधन का क्षेत्र सर्वाधिक महत्वपूर्ण है, क्योंकि इसकी सहायता से मशीन को प्राकृतिक भाषा समझने में सहायता मिलती है। इस प्रकार मानव और मशीन के बीच बेहतर संवाद स्थापित हो जाता है। वस्तुतः कृत्रिम बुद्धि के वैज्ञानिकों ने भाषा की समस्या को संप्रेषण की समस्या माना है। यही कारण है कि जहां एक ओर सामान्य भाषा वैज्ञानिक भाषा के पक्ष विशेष पर प्रकाश डालता है, वहां कृत्रिम बुद्धि के अंतर्गत वाक्यपरक, अर्थपरक और संदर्भपरक तत्वों के समन्वित रूप में देखने का प्रयास किया जाता है। प्राकृतिक भाषा को समझने में विश्व-ज्ञान व व्यवहार-क्षेत्र के ज्ञान की भूमिका को पर्याप्त महत्व दिया गया है।

स्लोकन के अनुसार कृत्रिम बुद्धि का वास्तविक उद्देश्य ज्ञान का अध्ययन करना था। ज्ञान के अर्जन, निरूपण और प्रयोग से संबंधित सामान्य ज्ञान को एक ऐसी लचीली प्रणाली के अंतर्गत रूपायित करना कि आवश्यकतानुसार उसका विस्तार किया जा सके। एक मशीन के लिए जो विभिन्न प्रकार के लोगों के साथ कुशलता से संवाद स्थापित कर सकती है, यह जानकारी जुटाना भी आवश्यक था कि विभिन्न परिस्थितियों में लोग किस प्रकार की जानकारी की अपेक्षा करते हैं।

जैक्सन ने कृत्रिम बुद्धि के तीन युग बताए हैं। पहला, क्लासिकी युग, जब शतरंज जैसे खेल के लिए कंप्यूटर प्रोग्राम लिखे गए। दूसरा, स्वच्छंद युग—सत्तर के दशक के मध्य में जब प्राकृतिक भाषा को समझने के लिए अनुसंधान आरंभ हुए, और तीसरा आधुनिक युग—सत्तर के दशक के उत्तरार्द्ध से, जब कि भाषा संसाधन के क्षेत्र में भविष्य काफी उज्ज्वल दिखाई देने लगा है।

यह एक संयोग ही है कि कंप्यूटर का विकास सर्वप्रथम ऐसे देशों में हुआ, जिनकी भाषा रोमन लिपि पर आधारित थी। कदाचित यही कारण है कि रोमनेतर लिपियों में इसका प्रयोग कुछ देरी से आरंभ हुआ। किंतु इस बात का कोई तकनीकी कारण नहीं है कि रोमन लिपि या अंग्रेजी भाषा कंप्यूटर के लिए आदर्श मानी जाए।

वस्तुतः कंप्यूटर की दो संकेतों वाली अपनी स्वतंत्र गणितीय भाषा है। इसी में वह प्राकृतिक भाषाओं को ग्रहण कर अपने सारे कार्य करता है। भाषा वैज्ञानिक यह मानते हैं कि पाणिनि कृत *संस्कृत व्याकरण* विश्व की सभी प्राकृतिक भाषाओं में सबसे अधिक सूत्रबद्ध है। साथ ही देवनागरी लिपि कंप्यूटर के लिए सबसे अधिक सुग्राह्य लिपि है। फिर भी भारतीय भाषाओं में अनुसंधानों की गति काफी धीमी है, जब कि चीन और जापान ने अपनी कठिन लिपियों के बावजूद अपनी भाषाओं में कंप्यूटर का उपयोग बढ़ा दिया है। इसके लिए कई महत्वाकांक्षी योजनाएं इन देशों ने चलाई हैं।

भारतीय संविधान में राजभाषा के रूप में हिंदी को प्रमुख दर्जा मिलने के बावजूद अंग्रेजी का वर्चस्व बना हुआ है। केंद्र सरकार के सभी विभागों में हिंदी अनुभाग गठित किए गए हैं। हजारों की संख्या में हिंदी अनुवादकों की भर्ती की गई है। किंतु प्रत्येक प्रारूप मूलतः अंग्रेजी में तैयार होने के कारण मात्र सांविधिक दायित्वों के अनुपालन के लिए ही मूलतः अंग्रेजी में लिखित और मुद्रित लाखों पुस्तकों को हिंदी में साथ-साथ अनुवाद करना आवश्यक है। आज हजारों अनुवादकों की भर्ती के बावजूद मूल प्रारूपण के कारण अंग्रेजी पाठ पहले तैयार हो जाता है और तात्कालिक आवश्यकता के कारण उसे पहले जारी भी कर दिया जाता है और अंत में यह लाइन जोड़ दी जाती है कि हिंदी पाठ बाद में जारी कर दिया जाएगा।

स्वचालित अनुवाद प्रणाली विकसित होने के बाद हिंदी पाठ भी अंग्रेजी के साथ-साथ वाक्य-प्रति-वाक्य तैयार हो जाएगा और मानव अनुवादक उसे देखकर जांच कर लेंगे कि उसमें किसी प्रसार की अशुद्धि तो नहीं रह गई। इससे लाखों मानव श्रमघंटों की बचत होगी और अनुवाद भी अपेक्षाकृत अधिक शुद्ध होगा।

इसके अलावा अंग्रेजी आज अंतर्राष्ट्रीय भाषा होने के साथ-साथ विज्ञान, प्रौद्योगिकी और व्यापार की भाषा भी है। इस अधुनातन ज्ञान-विज्ञान को हिंदी में यथाशीघ्र सुलभ कराने के लिए स्वचालित मशीनी अनुवाद की कोई प्रणाली अभी तक विकसित नहीं हो पाई है। इसका एक कारण कदाचित यह है कि अंग्रेजी भाषा के समान हिंदी भाषा का भाषिक विश्लेषण इस स्तर का नहीं हो सका है कि उसे मशीनी अनुवाद के लिए आधार बनाया जा सके।

इसमें संदेह नहीं कि हिंदी भाषा की जो विश्लेषणपरक सामग्री अंग्रेजी में प्रकाशित है उनमें हिंदी भाषा के आंशिक रूप की चर्चा की गई है। इसके अलावा जो सामग्री हिंदी भाषा में प्रकाशित हुई है उनमें से कुछ रचनाओं को छोड़कर अधिकांश सामग्री हिंदी के परंपरागत व्याकरण के स्वरूप को भी हमारे सामने रखती है। फिर भी हिंदी में कुछ स्तरीय पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं, जिनमें हिंदी का वैज्ञानिक विश्लेषण किया गया है। हाल ही में प्रकाशित एक लाख 60 हजार शब्दों वाले हिंदी के पहले समांतर कोश (थिसारस) ने भी हिंदी को समृद्ध बनाया है।

भारतीय भाषाएं विश्व की अनेक भाषाओं की तुलना में वाक्य विज्ञान, ध्वनि विज्ञान और रैखिक दृष्टि से अधिक सुनियोजित हैं। देवनागरी लिपि में कंप्यूटर में कार्य करना कठिन नहीं है। किंतु आवश्यक साफ्टवेयर के अभाव में 1965 से पूर्व इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती थी।

हिंदी में सर्वप्रथम कंप्यूटर के संदर्भ में ही शब्द संसाधन का कार्य प्रारंभ हुआ। यह भाषा संसाधन का आरंभिक सोपान है। किंतु आरंभिक चरण में रोमन लिपि के माध्यम से ही हिंदी पाठों का कुंजीयन किया जाता था। अब भारत और विदेशों में शब्द संसाधन के अनेक पैकेज विकसित किए गए हैं, जिनमें हिंदी में द्विभाषिक रूप से या फिर बहुभाषिक रूप में विभिन्न भारतीय भाषाओं के माध्यम से शब्द संसाधन के कार्य किए जा सकते हैं। इनमें प्रमुख हैं : 'अक्षर', 'मल्टीवर्ड', 'शब्दमाला', 'शब्दरत्न' 'बाइस्क्रिप्ट', 'आलेख', 'भारती', 'ए एल पी' आदि पैकेजों में से कुछ में वे तमाम सुविधाएं भी उपलब्ध हैं, जो 'वर्ड स्टार', 'वर्ड परफेक्ट माइक्रोसाफ्ट' जैसे अधुनातन वर्ड प्रोसेसिंग पैकेजों में सुलभ हैं। किंतु मात्र शब्द संसाधन से किसी भी भाषा में कंप्यूटर संबंधी महत्वपूर्ण अनुप्रयोगों को संपन्न नहीं किया जा सकता। इसलिए भारत सरकार के राजभाषा विभाग ने केंद्रीय सरकारी कार्यालयों के संदर्भ में कंप्यूटर संबंधी भाषा नीति की घोषणा करते हुए स्पष्ट

कर दिया था कि किसी भी कंप्यूटर को तभी द्विभाषी माना जाएगा, जब उसमें शब्द संसाधन के साथ-साथ डाटा-संसाधन की सुविधा भी हिंदी-अंग्रेजी में, अर्थात् द्विभाषिक रूप में उपलब्ध होगी।

डाटा-संसाधन संबंधी कार्य हिंदी में संपन्न करने के लिए दो विकल्प उपलब्ध हैं। हार्डवेयर विकल्प और साफ्टवेयर विकल्प। जहां तक हार्डवेयर विकल्प का संबंध है, इस दिशा में आई.आई.टी., कानपुर का प्रयास विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उनके द्वारा विकसित यह प्रणाली 'जिस्ट' (ग्राफिक एंड इटैलीजेंस बेस्ड स्क्रिप्ट टेक्नोलॉजी) प्रौद्योगिकी के रूप में प्रसिद्ध है। इस पर आधारित विभिन्न अनुप्रयोगों के विकास का दायित्व भारत सरकार के सी-डैक नामक संस्थान को सौंप दिया गया है, जिसने 'परम' सुपर कंप्यूटर का विकास भी किया। सी-डैक (सेंटर फार डेवलेपमेंट आफ एडवांस कंप्यूटिंग, पुणे (महाराष्ट्र) में स्थित है।

'जिस्ट' प्रौद्योगिकी के अंतर्गत पर्सनल कंप्यूटर के मदर बोर्ड पर एक 'प्लग इन कार्ड' लगा दिया जाता है। इसी कार्ड को 'जिस्ट कार्ड' कहा जाता है। इस कार्ड की सहायता से आई.बी.एम.पी.सी. कंप्यूटरों पर शब्द-संसाधन तथा डाटा-संसाधन के लिए प्रचलित रोमन के सभी पैकेजों का प्रयोग द्विभाषिक या बहुभाषिक रूप में किया जा सकता है। यूनिक्स/जेनिक्स परिचालन प्रणालियों के लिए 'जिस्ट कार्ड' के बजाय 'जिस्ट टर्मिनल' की आवश्यकता होती है। जिस्ट प्रौद्योगिकी के अंतर्गत यह सुविधा सभी भारतीय भाषाओं में सुलभ है और अब यह फारसी, अरबी, सिंहली, तिब्बती और रूसी लिपि में भी उपलब्ध हो गई है।

इसके विपरीत साफ्टवेयर विकल्प के अंतर्गत कंप्यूटर में किसी प्रकार के परिवर्तन की आवश्यकता नहीं होती। ये पैकेज फ्लोपी डिस्क के रूप में उपलब्ध होते हैं। ये पैकेज दो प्रकार के होते हैं। पहला समर्पित साफ्टवेयर प्रोग्राम दूसरा सामान्य उद्देशीय साफ्टवेयर परिवेश, समर्पित साफ्टवेयर प्रोग्राम के अंतर्गत हिंदी में डाटा-संसाधन का एक साफ्टवेयर है—'देवबेस' (द्विभाषी डाटा बेस प्रबंध प्रणाली)। यह साफ्टवेयर डी बेस -3 प्लस का द्विभाषी संस्करण है। डी बेस -3 प्लस के अंतर्गत हिंदी में काम करने के लिए यह एक अच्छा पैकेज है। लेकिन डी बेस के संशोधित पैकेज (डी बेस 4) में हिंदी में काम करने के लिए इसमें और संशोधन की आवश्यकता होगी।

सामान्य उद्देशीय साफ्टवेयर परिवेश के अंतर्गत रोमन लिपि के सभी साफ्टवेयर पैकेजों (जैसे डी बेस, लोटस, साफ्ट बेस, क्लिपर, फाक्सप्रो, औरैकल आदि) में हिंदी में कार्य किया जा सकता है। इसके अलावा यह परिवेश बेसिक, कोबाल, सी पास्कल आदि प्रोग्रामिंग भाषाओं में तैयार किए गए प्रोग्रामों में भी हिंदी को अतिरिक्त क्षमता प्रदान करता है। वस्तुतः यह परिवेश जिस्ट के ही समकक्ष है। जो कार्य जिस्ट के माध्यम से हिंदी में किए जा सकते हैं, वे सभी कार्य साफ्टवेयर विकल्प के रूप में इस परिवेश के अंतर्गत भी किए जा सकते हैं। आर. के. कंप्यूटर रिसर्च फाउंडेशन द्वारा विकसित 'सलिपि' नामक यह साफ्टवेयर जिस्ट के समान ही सामान्य उद्देशीय साफ्टवेयर है, जिसके माध्यम से एम.एस. डास पर आधारित पर्सनल कंप्यूटरों पर कार्यालय स्वचालन (आफिस ऑटोमेशन) संबंधी सभी कार्य हिंदी-अंग्रेजी में साथ-साथ किए जा सकते हैं।

जिस्ट व सुलिपि, दोनों के अंतर्गत भारतीय भाषाओं में परस्पर लिप्यंतरण की सुविधा मौजूद है। किंतु सुलिपि में यह सुविधा हिंदी, पंजाबी, बांग्ला और गुजराती तक ही सीमित है, जब कि जिस्ट में यह सुविधा सभी भारतीय भाषाओं में सुलभ है। □

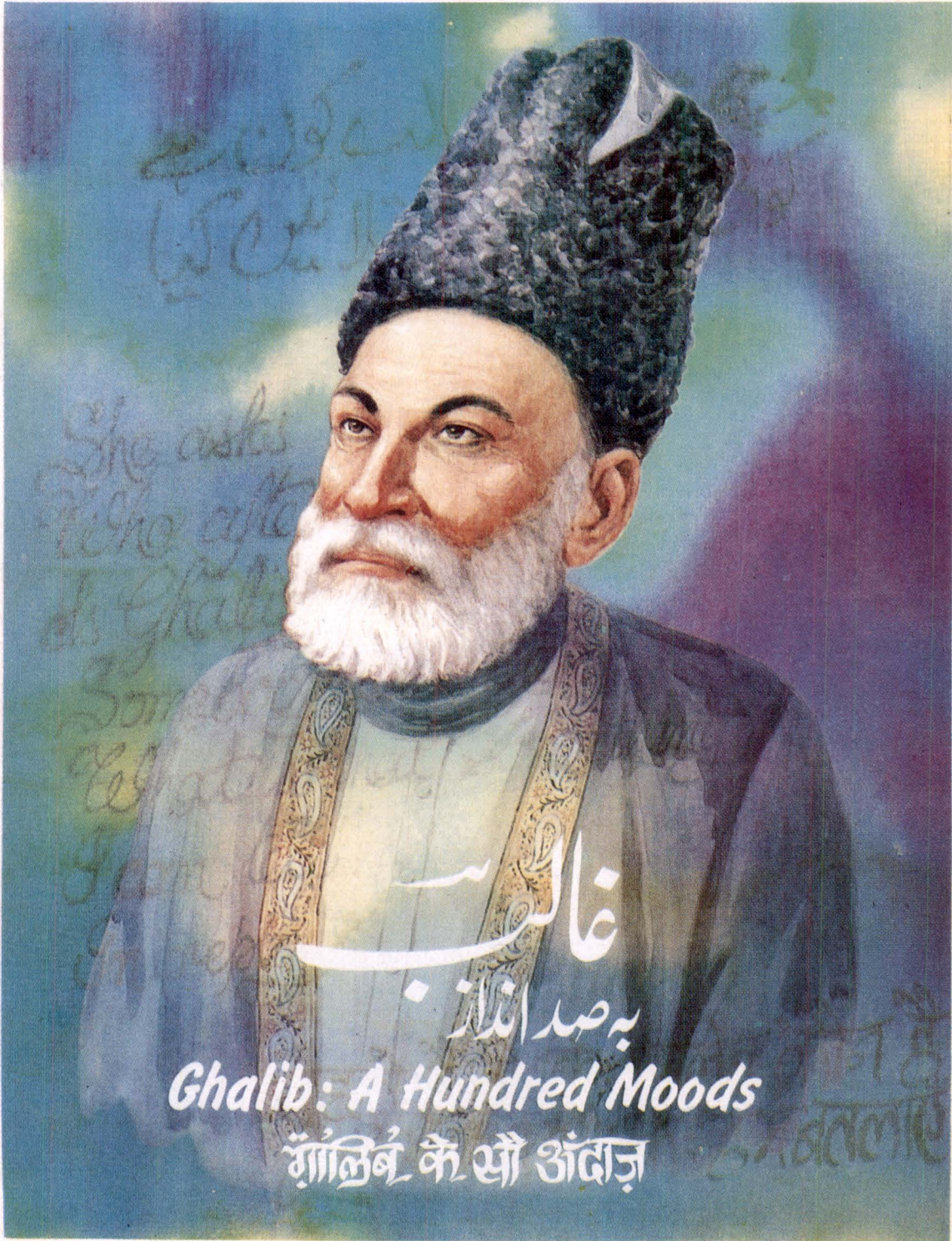
राष्ट्रीय एकता पर प्रकाशन विभाग से प्रकाशित पुस्तकें

भारत के बौद्ध तीर्थ-स्थल संघसेन सिंह / प्रियसेन सिंह	45 रु.	भारत के गुरुद्वारे गुरुबक्श सिंह	40 रु.
भारत में जनसंवाद डा. महावीर सिंह	50 रु.	पैगंबरों की कथाएं इकराम राजस्थानी	13 रु.
भारतीय विज्ञापन में नैतिकता मधु अग्रवाल	45 रु.	अमीर खुसरो डा. सोहनपाल सुमनाक्षर	15 रु.
राजर्षि पुरुषोत्तम दास टण्डन सत सोनी	22 रु.	समता की ओर मोहनदास नेमिशराय	15 रु.
राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त विजय अग्रवाल	55 रु.	मध्य भारत के लोकगाथा गीत डा. राम प्रकाश सक्सेना	54 रु.
हिंदी साहित्यकार : एक अलबम (चालीस दिवंगत साहित्यकारों के रंगीन चित्र)	400 रु.	हमारी नगरिया मनोहर सिंह बतरा	11 रु.
रसिकप्रिया आचार्य केशवदास कृत	250 रु.	भारतीय जन-जीवन : चिंतन के दर्पण में खंड-एक	40 रु.
भारत के दुर्ग दीनानाथ दुबे	70 रु.	भारतीय हस्तशिल्प परंपरा कमला देवी चट्टोपाध्याय	25 रु.
आदिवासी कला डा. वीरबाला भावसार	20 रु.	संदर्शिका भारतीय लघु चित्रकला प्रमोद गणपत्ये	120 रु.
देशभक्ति के नाटक चिरंजीत	20 रु.	अजंता का वैभव अपनी हिंदी सुधारें	800 रु. 30 रु.
सन् सत्तावन के भूले-बिसरे शहीद भाग-2 डा. विश्वमित्र उपाध्याय	25 रु.	भारत वार्षिक संदर्भ : ग्रंथ 1994	200 रु.

प्रकाशन विभाग द्वारा प्रकाशित पत्रिकाओं में से किसी एक पत्रिका का वार्षिक ग्राहक बन जाने पर पुस्तकों की खरीद पर 10 प्रतिशत की छूट। विभिन्न विषयों पर भारत की सभी भाषाओं में उपयोगी पुस्तकें उपलब्ध हैं।

100 रुपए से कम आदेश पर पंजीकरण शुल्क (रजिस्ट्रेशन फीस) अतिरिक्त भेजना होगा। पुस्तकें स्थानीय पुस्तक विक्रेताओं से लें अथवा सीधे लिखें :-

व्यापार व्यवस्थापक
प्रकाशन विभाग,
पटियाला हाउस,
नई दिल्ली-110001



मूल उर्दू के साथ देवनागरी व रोमन लिपियों में, अनुवाद सहित,
महाकवि ग़ालिब के 100 शेरों का संकलन

ब्रजेंद्र स्याल के मूर्तिशिल्पों से सुसज्जित आर्ट पेपर पर छपी
काव्य-प्रेमियों के लिए संग्रहणीय पुस्तक

मूल्य : 1000 रुपये

निदेशक, प्रकाशन विभाग, पटियाला हाऊस, नई दिल्ली-110001 द्वारा प्रकाशित
तथा सैण्ट्रल इलेक्ट्रिक प्रेस, नई दिल्ली-28 में मुद्रित